TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180692

UNIVERSAL
LIBRARY

—391 29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. H83 M1H5 Accession No. H 3937

ior

e

book should be returned on or before the date last marked below.

प्रचारक पॉकेट-बुक्स : ५२ :

साँचा

डॉ. प्रभाकर माचवे

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
गो बॉक्स न. ७०, वाराणसी–१

श्रीमन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि.
ई. १५/२४, मानमन्दिर, वाराणसी–१.

प्रथम • १९६३ 1/-

J2—SANCHA : Dr. Prabhakar Machave
(*Novel*)

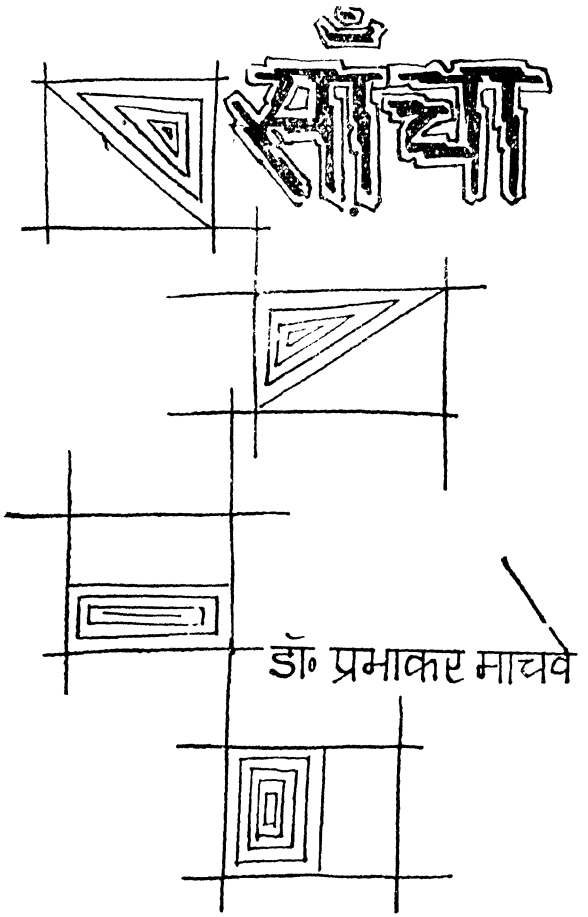

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी-१

Checked 1969

● अंग्रेजी-हिन्दी तथा देश की अनेक भाषाओं के प्रमुख विद्वान प्रभाकर माचवे भारत के गिने-चुने ख्यातिप्राप्त लेखकों में से हैं। साहित्य, आलोचना, काव्य, निबंध, आदि विषयों पर आपके अनेकों ग्रन्थ भारतीय साहित्य की प्रमुख थाती हैं। भारतीय संस्कृति और साहित्य पर अमेरिका के विश्वविद्यालयों में शिक्षक तथा साहित्य एकेडमी के सहायक मंत्री।

● ● यह औपन्यासिक कृति आधुनिक यंत्र-युग का यथार्थ, सजीव चित्रण है। यंत्रों के विशाल साँचों में घुटती, दबती जिन्दगी से उठते हुए बुलबुलों और आहों के स्वर, साँचों में दब कर विकृत हुए सौन्दर्य, कुचली जाती बौद्धिकता, दूषित होती मानवता के विभिन्न चित्र एक नयी ओजस्वी ललकार और एक दबी घुटी चीख लेकर इस उपन्यास में सजीव हो गये हैं। आधुनिक यथार्थ कथा-साहित्य के लिये यह कृति एक अपूर्व देन सिद्ध होगी।

: १ :

जब केशो ने गाँव छोड़ा तब उसे पता नहीं था कि शहर इतना खराब होता है। हमेशा आदमी बेहतर की तलाश में बढ़ता है, गो बेहतर कभी-कभी बदतर साबित होता है। केशो का पुश्तैनी मकान भाई-बन्दों के लड़ाई-झगड़ों मे टूट चुका था। जो उसके हिस्से में जरा-सी जमीन आई भी थी, तो वह निकम्मी थी। सो उसे बेच-बाच कर साल भर की ज्वार बीवी-बच्चो के लिये घर में जमा कर रख दी और केशो शहर की ओर चला।

तब उसके मन मे कितने सपने थे। कितनी बड़ी-बड़ी उम्मीदें! कितने बड़े-बड़े इरादे! शहर के बारे में जो कुछ उसने सुन रखा था, वह 'अरब की रातों' से कम जादू भरा और दिलचस्प नही था। मसलन उसने अपने दोस्त माँगीराम से यह सुना था कि शहर मे ऐसी एक कल होती है कि उसको जरा-सा घुमा दो, तो उसमे से जो चाहिए वह चीज गिर पड़े। बिस्कुट चाहिए तो बिस्कुट, पान चाहिए तो पान, नोट चाहिए तो नोट। जब पहली बार उसने यह बात सुनी, तो उसे सहसा विश्वास नही हुआ। केशव राम ने माँगीराम से कहा--'यार, तुम हमें बना रहे हो।'

माँगीराम ने कहा--'केशो! रामजी की कसम, मैं झूठ क्यों बोलूँ? तू खुद वहाँ चल और देख ले।'

फिर केशो ने जिज्ञासा की--'पर नोट कैसे पड़ते होंगे?'

माँगीराम ने कहा--'बुद्धू! ये सब किस्मत के खेल होते हैं। उस कारनिवाल में मंगली फँस गया। एक का नोट लगाया और सौ का नोट आ गया। ये तो सब अपनी-अपनी नसीब-आजमाई की बात है। समझे!'

केशो ने हुंकार भरी और तै हुआ कि माँगीराम के साथ वह भी शहर की ओर चल पड़ेगा। साथ में कितने रुपये लेकर चला जाय इसके बारे में बहस हुई। यह भी सोच लिया गया कि तीस रुपए काफी होंगे।

माँगीराम वैसे ही आवारा नंबर एक थे। बोले—'बीस मेरी ओर से मिला ले। पचास रुपए काफी हैं। दो परानी तो हैं ही, करना ही क्या है ?'

केशो ने अटी में पचास रुपये लिए, कुछ गिन्ती के कपड़े एक बिस्तर में बाँधे, वक्त से दो घटा पहले स्टेशन पर आ पहुँचा। माँगीराम साथ था ही।

केशो ने अपनी छोटी-सी गिरस्ती से विदा ली तो लड़की चम्पा की आँखों में आँसू आ गये। आठ बरस की यह लड़की ही उनकी जिन्दगी का एक मात्र संबल थी। चम्पा से पहले और बाद में दो-तीन सन्तानें हुई, वे जी न सकी। चम्पा की माँ के मन में लड़के का मुँह देखने की चाह बाकी बनी ही रही।

मालवे का काली मिट्टी वाला छोटा सा गाँव। वहीं भेरू का लड़का केशो बचपन से बड़ा हुआ। पढ़ाई-लिखाई के नाम पर बचपन में पाठशाला में जो भी चार अक्षरों से परिचय हुआ, वही समझो। वर्ना लिखने-पढ़ने के नाम पर कुनबे में वैसे कौन-सी खास हौंस थी ? सन् बीस के दिनों में और तिस पर यह रियासत में पड़ा हुआ पिछड़ा हुआ गाँव। बाप ने कुछ जमीन की काश्त बड़ी मेहनत से, अपने पसीने की गाढ़ी कमाई से, कर ली थी। पर वह बाद में भाई-बिरादरी, कोर्ट-कचहरी के चक्कर में उनके पास नहीं रह पाई थी। केशो के छः भाई और चार बहनें थी और जब यह सबसे छोटा लड़का केशो सयाना हुआ, तो इसकी किस्मत में गाय-भैंसे और रेवड़ चराना ही बाकी था। घर की हालत बहुत खस्ता हो चुकी थी। एक भाई सन् '१४ की लड़ाई में परदेश चला गया था और लौटकर आया तो फूट के बीज साथ में ले आया। अब उससे देहात में रहा नहीं जाता था।

इस तरह पुश्तैनी खेत बिके, बैल बिके, मकान के भी टुकड़े-टुकड़े हो गये। इसी गम में केशो का बाप भेरू मर गया।

केशो की शादी बहुत छोटी उम्र में जसमन्ती के साथ हो गई थी और बाद में जब बच्चे हुए तब तक घर से माँ का साया भी जाता रहा। पर जसमन्ती की हिम्मत और गरीबी के साथ जूझने की हिन्दुस्तान की माताओं का कमाल था कि उसने अपने मुँह का कौर निकालकर चम्पा के मुँह में दिया और धीरे-धीरे बच्ची को बड़ा किया। केशो का स्वभाव बचपन से ही तेज था और बात-बात पर वह लड़ बैठता था। सो कहीं किसी के साथ उसकी बनती नहीं थी, नतीजा यह था कि जो कुछ काश्त थी, वह भी तहसीलदार सरदार संभाजीराव पवार के चरणों में उसे अर्पित कर देनी पड़ी।

गरीबी में स्वाभिमान! कंगाली में गीले आटे के बराबर है। सद्गुणों को भी दुर्गुण बनानेवाला बहुत बड़ा अभिशाप है, यह गरीबी!

केशो ने ऐसे-ऐसे दिन बिताए हैं कि सूखे चने फाँककर ऊपर से बावड़ी का गड़ुआ भर ठंडा पानी पीकर रह गया है, तिस पर यह तम्बाखू की कुटेव! उसका जो भी थोड़ा बहुत कमाना था, गाँ वह ले जाती। इस माँगीराम ने ही केशो को बीड़ी की बुरी आदत लगाई थी। जसमन्ती को तो माँगीराम फूटी आँखों नहीं सुहाता था। पर केशो था कि आव देखे न ताव, वक्त देखे न साइत, सदा माँगीराम को लिए चला आता था।

जसमन्ती केशो से कहा करती—'यह तुम्हारे माँगी लाल या माँगीराम पूरे मँगते हैं! जब देखो तब आकर डटे रहते हैं।'

केशो गिड़गिड़ाते—'देखो चम्पा की माँ! और कोई सुख कपार में नहीं है, तो इन दोस्तों से दो बातों का मजा तो मिलता है। इसे काहे को छीनती हो?'

'राम भला करे। तुम्हारी ये दो बातें हैं या शैतान की आँतें हैं!'

'शैतान की आँते ही सही, तुम्हारा तो हम कुछ नहीं बिगाड़ते हैं।'

'वो माँग्या आकर दुनियाँ भर की बुराई करने बैठता है और तुम माटी के माधो की तरह हाँ-में-हाँ मिलाते हो। तुम्हें जरा भी समझ नहीं। पड़ोस की जमना कह रही थी कि मांग्या जैसा बदमाश सारे गाँव में और कोई नहीं है।'

केशो धीर गम्भीर दार्शनिक की तरह कहता—'होगा–होगा! हरेक की अच्छाई-बुराई उसी के साथ जाती है। हम क्यों किसी के लिए बुरे बनें?'

जसमन्ती फिर भी उसे आगाह करती—'मैं कहे देती हूँ, एक दिन यह अपने सारे कुनबे को ले डूबेगा। अब लड़की इतनी बड़ी हो गई, उसके ब्याह की फिकर करो। उस भुक्खड़ के साथ दुनिया भर की बुराइयां करते–फिरने से क्या मिल जाने वाला है?'

बात वहीं रह गई, क्योंकि माँगीराम आ गया था—और जोरों से बाहर से पुकार रहा था—'केशो, ओ केशो!'

'आया, भाई, आया', और केशो अपनी तम्बाकूबाज़ों की पार्टी में जा अटका।

सो जब केशो स्टेशन पर पहुँचा तो उसकी आँखों के सामने चम्पा की बड़ी-बड़ी आँखों में काजल की रेखा-सी बनाते, ढुलकने वाले आँसू और सिसकियों का बँधा तार साफ दिखाई देता था। केशो अपनी पत्नी से पहली बार इतने दिनों के लिए दूर जा रहा था। चलते वक्त कह गया था कि नौकरी मिल गई, तो आकर तुम सब को साथ ले चलूँगा। और नहीं मिली तो वहाँ कोई हमेशा के लिए थोड़े ही रहने वाला हूँ। घर लौट आऊँगा।

चम्पा की माँ ने बार-बार याद दिलाई—'खत जरूर लिखना!' 'हाँ, हाँ,' केशो ने ढारस बँधाया था, पर ढारस था कि वह नहीं बँधा था। विदा के वक्त ढारस, साहस, हिम्मत, आत्मविश्वास बालू की भीत की तरह बिखर गये थे। पारे की तरह बाँधने पर भी वे बँध नहीं पाये।

माँगीराम ने जब बीड़ी देकर माचिस माँगी तब तक केशो अपनी पगड़ी को सँभालना भूल कर घर की याद में उलझा था। माँगीराम ने एक धौंस जमाते हुए कहा—'शहर में ऐसी

पग्गड़ से काम थोड़े ही चलेगा, वहाँ तो तुम्हें टोपी पहननी होगी, टोपी।'

'कैसी टोपी ?'

'जैसी तुम पहनना चाहो। वहाँ सब रंग की टोपियाँ चलती है।' ऐसे पगड़ी पहन के जाओगे तो तुम्हे कोई पास आने ही नहीं देगा। नौकरी कौन देगा ?'

'अच्छा ?'

केशो माँगीराम की हर बात को ऐसे स्वीकार कर लेता था, जैसे ब्रह्म वाक्य हो। माँगीराम भी केशो के इस अनन्य और अटूट विश्वास को अच्छी तरह जानता था और उसका खूब फायदा उठाता था।

शुजालपुर मंडी का स्टेशन तब बहुत छोटा-सा था और गाड़ियों में आज की तरह भीड़ नही हुआ करती थी। दोनों ने इन्दौर के टिकट लिए और चल पड़े।

रास्ते में उज्जैन पड़ता था। इसलिए माँगीराम ने प्रस्ताव रखा कि मा साहब की धर्मशाला में सामान रख देंगे और उज्जैन देख आयेंगे। बड़े गनेस जी और महाकाल के दर्शन से आगे के काम में बड़ी सफलता मिलेगी। वैसे केशो का एक भाई मगरमोहे और कार्तिक चौक की एक बीच की गली में रहता था और वह उससे भी मिलना जरूरी समझता था।

रेलगाड़ी में बैठने का केशो का यह दूसरा-तीसरा ही मौका था और उम्र मे बड़े होने पर भी बच्चे की तरह वह हर चीज में एक कुतूहल और अचरज पाता था। बार-बार पूछता जाता था, 'माँगी—यह क्या है ?'—'यह कौन है ?', 'ऐसा कैसे हो जाता है ?'

गाड़ी चली जा रही थी, माँगी सो गया था और खिड़की के बाहर भी देखने लायक कुछ नहीं था—रात घिर आई थी—केशो को बहुत कोशिश करने पर भी नींद नहीं आ रही थी। उसकी आँखों के सामने जादू का देश बनकर शहर तैर रहा था। नाग-कन्याएँ—राजकन्याएँ—पन्ने के और मूंगे के राजा—अशर्फियों के ढेर-के-ढेर, सोने की वर्षा—चाँदी की धोती और मखमल की पाग

पहने वह घोड़े पर बैठा मूँछों को मरोड़ दिये वैसे ही जा रहा है, जैसे कहानियों मे डाकू ऊधमसिंह को सुना था---फिर दृश्य बदलता--- एक सफेदपोश बबुआई जिन्दगी का नक्शा सामने खिच जाता--- वह शहर से गाँव को लौट रहा है---एक बड़ी-सी गुड़िया चम्पा के लिए लाया है और मुट्ठी बद करके जसमन्ती से पूछता है--- 'बूझ, तेरे लिए क्या लाया हूँ ?'

'कान के बुन्दे होंगे ?'

'नही !'

'फिर, गले का कण्ठा होगा ?'

'नही !'

'आखिर है क्या ऐसी बड़ी चीज और इतनी छोटी-सी ?'

शहर मे मिलने वाली सुन्दर होने की दवा थी। तो क्या चम्पा की माँ इस उम्र मे और सुन्दर होगी ? 'हिश्---बड़े वैसे हो !' शर्म से ललाई चम्पा के कानो के मूल तक छू जाती है। और वह गाँव में निकलता है। गाँव भर मे बड़ा रोब है उसका। केशो निरा केशो नही रहा, अब बाकायदा श्री केशवराम बनकर बबुआई हवा ले कर शहर से लौटा है। कपड़ो में भी कलफ लग गया है, कुर्ता नये काट का है और अब अगले ही हफ्ते सपरिवार शहर जाने वाला है.....

पर यह सब दिवास्वप्न था। खर्रर्र...खच्च–ट्रेन रुक गई। शायद कोई अभागा जानवर इंजन के नीचे आ गया था।

डिब्बे वाले जाग पड़े, हड़बड़ाहट हुई।

एक बूढ़े ने खाँसते-खाँसते कहा---'जानवर ही था न, आदमी तो नही था ? जाने दो !'

ट्रेन फिर चल पड़ी। रेल जैसी निर्भय और कोई लोहे की चीज नहीं होगी। दो पटरियाँ हैं कि जिन्दगी भर एक दूसरे से बँधी रहकर भी एक दूसरे से सदा अलग हैं---इंजन है कि उसे डिब्बों के अंदर क्या है इसका पता नहीं। और डिब्बे हैं कि उनके लिए इंजन एक रहस्यवादी कविता से कम नहीं है। और केशो गाँव

छोड़कर शहर जा रहा है। जिसकी पहली मंजिल 'उज्जैन' पास आती जा रही है।

—:०:—

: २ :

जब मनोहर ने दर्शनशास्त्र मे एम० ए० अपनी मर्जी से कर डाला, तो उसके भाई—बन्दों को कोई आनन्द नही हुआ। वे चाहते थे कि छोटा भाई कोई बड़ा वकील, बारिस्टर बनता, कोठी-बगला बनवाता, बगीचे में माली काम करते रहने, मोटर और ड्राइवर पुकारते ही हाजिर होने और शहर के हाकिम चाय पर बुलाते। पर भला यह सब रतबा बेचारी दर्शनशास्त्र की ऊँची डिग्री मे कहाँ ?

और दर्शनशास्त्र की दूसरी खराबी यह थी कि मनोहर आवश्यक रूप से बेहद गंभीर और विचारमग्न मुद्रा लिए चलता। किताबो का कीड़ा वह आदर्शवादी युवक दुनियाँ मे किस काम का था ?

जब नतीजा निकला और पता चला कि मनोहर युनिवर्सिटी मे अव्वल आया है, तो उसको मन-ही-मन खुशी हुई, एक गुदगुदी-सी हुई। उसे लगा कि मनोविश्लेशण शास्त्र पर उसका लिखा हुआ आठवे पर्चे में का निबध सचमुच रंग लाया है। पर इस खुशी के विषय में वह कहता किससे ? बड़े भाई साहब एक रियासत के गाव मे दलाली का काम करते थे। बड़ा कुनबा था—पर वहाँ दर्शनशास्त्र तो दूर, किसी भी शास्त्र को जानने वाला पढा-लिखा कोई आदमी नही था। घर में एक बाल विधवा पागल बहिन थी और गाँव मे कोई ऐसा नहीं था, जिससे वह बातें कर सकता। घर से थोडी दूर पर मीलों में काम करने वाले एक मिशनरी रेवरेड फादर डिक्सन रहते थे। उन्हें मनोहर कभी-कभी मिल जाता तो वे उससे बहुत-से विषयों पर बहस करते और लड़के के खुले दिमाग और उदार विचारों से बहुत खुश होते थे।

रहे होंगे, तो उनके पास अवश्य बड़ी मात्रा में शक्ति और सौन्दर्य रहा होगा। इस समय वे और उनकी जवान लड़की लिजा यहाँ भीलों के बीच में कार्य कर रहे थे। सेवा कार्य में उनकी जिन्दगी लगी हुई थी। भीलों के बारे में जितना वे जानते थे, शायद ही और कोई भारतीय जानता हो।

मनोहर के प्रति फादर डिक्सन को भी बड़ा स्नेह था। ऐसा होनहार, बुद्धिमान, नौजवान उन्हें उस प्रदेश में कम मिला था। न केवल दर्शनशास्त्रीय मसलों पर उनसे बहस होती पर जिन्दगी के और भी कई पहलू थे जिन पर दोनों में बार-बार बहस हो जाया करती थी।

एक दिन सबेरे की चाय पर जब डिक्सन ने मनोहर को बुलाया, तब लिजा भी वहाँ थी। सुनहले बाल, ऊँचा माथा, नीली आँखे, बहुत सुकोमल नासा और ओंठ, गौर वर्ण—लिज़ा जैसे किसी संगमरमर की प्रतिमा की तरह दिखाई देती थी। शिल्पी रोदां के 'दुःख' चित्र की तरह थी वह। तो उस दिन बहस चल पड़ी पश्चिम वालों की भारत के प्रति उच्चता की भावना को लेकर। मनोहर ने कहा—'आप मिशनरी लोग आदिवासियों में जो काम करते हैं, उसके मूल में स्नेह नहीं है। असल में आप उन्हें वैसा ही जाहिल, निरक्षर, असभ्य और पिछड़ा हुआ बनाये रखना चाहते हैं; इसलिए यह सब काम करते हैं—उनके फोटो खींच कर बाहर की दुनिया को बताते हैं कि भारत! ऊँह—वहाँ तो अर्द्ध-नग्न लोग बसते हैं। बेकार है वह देश। यही श्रेष्ठता का व्यर्थ का आडम्बर और भाव आपके मन में काम करता रहता है।'

फादर डिक्सन मुस्कराए और बोले—'यह बात नहीं है मनोहर! हमारे इरादों पर क्यों संदेह करते हो? हम ही थे कि दूर के अज्ञात देशों में जाकर खूँखार आदिवासियों के बीच में डेरा डाला। हम डरे नहीं, न बीमारियों से, न वन्य-पशुओं से और न पशुओं से भी अधिक हिंसक आदमियों से। हम बराबर

डटे रहे। कोई आस्था थी, कोई शक्ति थी, जो बराबर हमारे भीतर यह भावना बनाए रही कि हों ये जंगली, पिछड़े हुए और गए-बीते। हमें कौन-सा हक है कि हम मानव को हेय समझें? जो प्रभु ईशु की संतान हैं, वह सब भाई-भाई है। हम तो सिर्फ इसी विचार से यहाँ आये और यहीं के हो रहे।'

मनोहर ने कहा—'फिर भी जैसे ये भील है—क्या इन्हें आपने कभी सुधारा?'

फादर डिक्सन इस बार चुप रहे। लिज़ा ने आवेश से कहा—'सुधारने का क्या मतलब? हमने उनके लिए स्कूल खोले, दवा-दारू के लिए अस्पताल खोले। जो लड़कियाँ ईसाई बन गयीं, उन्हें नर्स बनाया।'

मनोहर भी बहस करने पर तुला था। बोला—'यह सब बहुत अच्छा किया आपने। पर फादर डिक्सन; मान लीजिए कल एक भील पढ़-लिखकर आपकी लड़की लिज़ा का हाथ शादी में माँगे तो आप देंगे?'

'एब्सर्ड'—फादर के मुँह से निकल गया।

'नानसेन्स'—लिजा ने कहा—'ऐसा हो ही कैसे सकता है? मैं इस देश की रहने वाली कहाँ हूँ? मैं तो सात समुद्र पार लौट जाऊँगी।'

मनोहर ने मुस्कराते हुए व्यंग भरे स्वर में कहा—'जैसे प्रेम की शक्ति आज तक समुद्रों को पार नहीं कर सकी है। क्यों?'

लिजा के मुँह पर लाली दौड़ गई। लज्जा से उसके कर्णपुट और नथुने आरक्त हो उठे। फादर डिक्सन ने विषय बदलते हुए कहा—'एम० ए० का नतीजा आ गया?'

'हाँ, मैं फिलासफी में अव्वल आया हूँ!'

'तो फिर आगे क्या करने का इरादा है?'

'मैं नहीं जानता। सोचता हूँ—क्या करूँ? हम तो गरीब लोग ठहरे—हमारे लिए हमारे बाप-दादे कोई अर्जित-संपत्ति छोड़ नहीं गये हैं। हाँ, आज-कल यही एक रास्ता बचा है—नौकरी!'

और नौकरी शब्द से उसके मन की कड़ुआहट तीखी हो आई। सारा मन मानो मितली से भर उठा। नौकरी शब्द के साथ ही उसके मन में कई चित्र एक साथ जमा हो गये, घिघियाते हुए चपरासी, बोझ से दबे गधे, कन्धे पर का भारी जूआ उठाने में असमर्थ मरियल बैल, जिसकी चौराहे पर अंग-प्रत्यंग देखकर बिक्री होती थी ऐसी दासी, अफसर की घुड़की, चमकते हुए पालिश किये बूट की ठोकर, संतापमिश्रित व्यथा के मौन घूँट, दबी हुई आहें और मालिक की मर्जी पर दिन को रात कहनेवाला खुशामदी अहलकारा—माहवार तनख्वाह के कलदार, संकल्पों का हनन, धीरे-धीरे एक मशीन का पुर्जा बन जानेवाली मस्तिष्क की चेतना! उसके मन में जो सपनों के शीशमहल, जनम-जनम से पाल-पोस कर बड़े किये गये थे—उन्हें ठेस पहुँची—काल्पनिक हाथी दाँत की मीनार चूर-चूर होकर झन्न से गिर पड़ी। आइने के हर खंड में मुँह बिचकाता, झुर्रियोंवाले चेहरे के मनोहर का प्रतिबिंब जैसे उसे चिढ़ा रहा था। मनोहर, मनोहर, आज तुम स्वतन्त्र हो—कल से तुम गुलामी का तौक पहनना चाहते हो?...'

वह थोड़े से क्षणों में यह सब देख गया। उसे लगा कि उस वज्रातिक हवा में किसी ने जलते मुर्दे की बास भर दी हो; जैसे उस सुनहली धूप में खेलती, हरियाली में फुदकती गौरैय्या के पाँख किसी ने नोच डाले हों; जैसे दूर पर बहनेवाला पहाड़ी झरना उलटे पैरों पहाड़ में सिमिट गया हो, ठंडा हो गया और जम गया हो। जीवन के तितलीपंखी यान में जैसे सौ-सौ मन के लोहे के प्रलय-लंगर लग गए हों। उसके स्वप्नों का सागर बिखर गया, आकाक्षा की मदिरा बालुका में ढुलक गई।

तभी लिज़ा ने जैसे उसे याद दिलाया—'मनोहर जी, आप ऐसे उदास क्यों हो गये? क्या नौकरी का ख्याल आपको सूट नहीं करता?'

फादर डिक्सन स्नेह भरे शब्दों में बोले—'ओह, मनोहर दार्शनिक तबीयत का आदमी है। उसे यह कैरियर-सीकिंग....'

मनोहर फिर भी चुप था।

लिज़ा ने कहा—'छोड़ो भी ! आने वाले दिनों के लिए मन में व्यर्थ की चिन्ता करते हो ? मुझे एक बात बताओ कि उस दिन जो हमारे बगीचे के फूल ले गये थे, वे आपको पसद है ?'

मनोहर ने जैसे तंद्रा से जागते हुए कहा—'हाँ, बहुत सुन्दर फूल थे। पर...'

लिज़ा को उन्हीं फूलों के लिए उठकर जाते हुए देखकर मनोहर मना करते हुए बोला—'नही नही, लिज़ा ...तुम फिर उन्हें लेने मत जाओ ! मै अब फूलो को लेकर क्या करूँगा ?'

'क्या बात है जो आप हर अच्छी चीज के बारे मे यों सोचते है, जैसे आपको अकाल वैराग्य हो गया हो, क्या बात है; आपकी तबीयत खराब है क्या ?'

'नही-नही।' मै सोच रहा था कि अगर फूल. .फूल आप नही ही दें तो अच्छा है। फूल की हर पखुरी के साथ जिम्मेदारी बढ़ती है।'

फादर डिक्सन बोले—'और नौजवान जिम्मेदारी से कतराते रहते है !'

मनोहर ने चुनौती स्वीकार की—'यह बात नही है फादर ! मै कह रहा था कि फूल होते तो है सुकुमार, देखने मे छोटे, पर उनका लेनेवाले के दिल पर पडनेवाला असर बहुत गहरा होता है, बहुत टिकनेवाला, दूरगामी !'

फादर डिक्सन—'तो उसमें क्या बुराई है, यंग मैन, लिजा तुम्हें फूल ही तो दे रही है, दिल तो नहीं दे रही है।'

मनोहर ने मन मे कहा—'शायद मै दोनों चाहता हूँ।' पर फिर उसकी जबान पर जैसे ताला पड़ गया। क्या यह कभी सभव था ? विदेश की इस रूपवती कुमारी के साथ मनोहर का हमेशा के लिए रहना हो नहीं सकता था—तीनो काल और तीनो लोक में असंभव। चाहे आकाश से कोई और आश्वासन की वाणी लरजती हो—नियति की ऐसी प्रवंचना में प्रज्ञावान मनोहर कभी विश्वास नहीं कर सकता था। लिजा और वह ? वह और लिज़ा ? असंभव—दो ध्रुव, दो छोर ! दो ऐसे साहिल जिनके बीच में

समुन्दर हो, जो लहरा रहा हो—इस शान्त समतल बहनेवाले सागर की सतह को वह मिटाना नहीं चाहता था। वह एक नया तूफान खड़ा करना नही चाहता था।

लिज़ा ने फूल ला दिये। उसने फूल अपने खद्दर के रूमाल मे ले लिए।

फादर डिक्सन ने कहा—'मनोहर जी आप खद्दर नैष्ठिक रूप में पहनते है ?'

मनोहर—'हाँ, यह हमारी आजादी की वर्दी है। मै आधा घण्टा कातता भी हूँ। मै समझता हूँ चार घण्टे चिल्लाकर लेक्चर देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा उद्योग है और अब तो गाँधी जी ने रोक लगा दी है—'जो काते सो पहने। जो पहने सो काते !'

फादर डिक्सन ने मनोहर से पूछा—'क्या आपने गाँधी जी को कभी देखा है ?'

मनोहर ने कहा—'नही, मैंने उन्हें देखा नही। पर वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के रोम-रोम में व्यापे हुए हैं, वे उससे अलग नही किये जा सकते। उन्होने हमारे यहाँ के किसान को; जो झुका हुआ, दबा हुआ और जमीन मे मिला हुआ था, रीढ़ की हड्डी, तनकर खड़े होने का मेरुदंड दिया, एक सकल्प का मंत्र दिया है।'

लिज़ा ने कहा—'मैंने सुना है, गाँधी जी स्टेशन पर से गुजरेंगे। आप चलेंगे मेरे साथ ?'

मनोहर ने कहा—'फ्रांटियर रात को बहुत देर से स्टेशन से गुजरती है। असल में आपको तो कांग्रेस का अधिवेशन देखना चाहिए। इस तरह ट्रेन से गुजरते हुए उन्हें दो मिनट के लिए देखने में क्या रक्खा है ?'

फादर डिक्सन ने कहा—'अगली कांग्रेस में हम भी चलेंगे।'

मनोहर ने सुझाव दिया कि अगली कांग्रेस पर यदि भीलों का एक पूरा सांस्कृतिक कार्य-क्रम बनाकर ले चला जाय तो कांग्रेस-अधिवेशन के साथ कुछ काम भी हो जायगा।

यह वादा कर मनोहर घर लौटा तो देखा कि मित्र शरण का तार आकर पड़ा है—'अगले हफ्ते इन्दौर आ जाओ। नौकरी मिल जाएगी।'

मित्र शरण मनोहर के साथ दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी रह चुके थे। और सज्जन, सहायता करनेवाले, सहृदय व्यक्ति थे। मनोहर ने तय किया कि घरवालों को बताना व्यर्थ है। किसी दिन इन्दौर के लिए चल देंगे। घरवालों को 'सरप्राइज' कर देंगे।...

—:o:—

: ३ :

केशो और माँग्या उज्जैन, उनकी भाषा में 'उज्जीर्ण' टेसन पर उतरे तो अचरज में पड़ गये। केशो ने शहर बहुत कम देखा था। कभी बचपन में शायद वह एक बार अपने नाना के साथ उज्जैन आया था, पर कमलों से भरे तालाब को छोड़कर उसे कोई याद बाकी नहीं थी।

स्टेशन से उतरते ही वह मा साहब की धर्मशाला में गये। वहाँ गरीब मुसाफिरों को सीधा भी मिलता था। वह लेने का प्रस्ताव माँग्या ने रक्खा, तो केशो बोला—'तुम आखिर माँग्या-के-माँग्या रहे। हमेशा माँगने वाले। सीधे से अपना काम कैसे चलेगा?'

माँगीराम बोले—'डब्बल तो अंटी में है नहीं और भीख से परहेज करने चले है!'

केशो में अभी तक कुछ धरम-करम का लिहाज बाकी था। बोला—'ऐसे हट्टे-कट्टे होते हुए बिना मिहनत-मशक्कत किये भीख का खाना! मुझे तो शरम लगती है।'

माँगी राम ने समझा दिया—'गावदू, ये शहर है शहर! यहाँ सब कुछ जायज है। यहाँ बड़े पढ़े-लिखे जंटरमैन लोग भी यही धंधा करते हैं! सुना है वे जेब काटते है!'

केशो ने भोलेपन में पूछा—'काम नहीं करते!'

माँग्या ने शरारत भरी हँसी हँसकर कहा---'यह भी कोई काम नही है क्या ? बड़ी चतुराई का काम है और बिना पूँजी का काम है ।'

तभी ताँगे से कोई गुजराती परिवार उतरा। माँग्या धीरे-धीरे उनके पास पहुँचा और उसमें की एक भद्र-महिला का पर्स उसने हाथो-हाथ नजर बचाकर चुरा लिया। पेशाब करने के बहाने वह दूर झाड़ियों में गया, और उसमे का कैश हथिया कर पर्स वहीं फेंक दिया ।

केशो की आत्मा जैसे सिहर उठी। वह सोचने लगा कैसे चोर, उचक्के के साथ आ गया ? बुरा हुआ। पर अब कदम एक बार उठा लिया है, तो लौटना असम्भव है ।

केशो और माँगीराम सिपरा पर नहा-धोकर महाकाल पहुँचे। इन्दौर जाने वाली गाडी शाम को मिलती थी और एक ही दिन में सब तीर्थ उन्हें देख लेने थे। सिपरा के घाट से कई मन्दिरों के शिखरो को ही प्रणाम किया, उसके भीतर वे नही गये। दत्तगुरु के अखाड़े से भी उन्हे कोई मतलब नही था। महाकाल पहुँचे तो पहले रास्ते मे बडे गणेशजी मिले। आज तो यह गणपति का मंदिर बहुत सँभले, सुधरे हुए रूप मे है, पर उन दिनों सिंदूर पुता हुआ यह विराट गणेश बहुत भयप्रद चीज थी। देखकर एकबारगी केशो डर गया ।

पुजारी ने कहा---'ये गणपति जी है, सकल सिद्धिदाता, विघ्न-हर्त्ता, मोदकप्रिय। इन्हें दक्षिणा चढ़ाओ, सकल मनोरथ पूर्ण होगे ।'

केशो ने अंटी से पैसा निकाला और चढ़ा दिया। यह गाढ़ी कमाई का एक पैसा-भला उस सिंदूर की पुट चढे हुए महादेवता का जरा भी ध्यान खींच सकता है ! वह देवता जो सदा से मिहनत की, पसीने की कमाई, आदि से दूर, तोते की तरह धर्मग्रंथ की रटन पर जीने वाले, चर्बी के लोदे जैसे पुजारियों की तन्द्रालस्य निद्रा का एकान्त पहरेदार है। अहर्निश खुली आँखों से देखने वाला साक्षी हस्तिमुख, न जाने कितनी सदियों से मूक बैठा है ।

केशो को सबसे विचित्र जान पड़ा मानवाकार विशाल चूहा, जो उस गण-देवता के चरणों पर बैठा हुआ---गणेश जी के हाथों में

रखे लड्डुओं के बड़े भारी ढेर को टुकुर-टुकुर ताक रहा था, पिपासित आँखों से। उसकी आँखों में निर्निमेष देखते-देखते एक तरह की प्रेत-जड़ता आ चुकी थी। यह चूहा भी शायद आदमी ही रहा हो।

केशो नहीं जानता कि जब चूहा सबसे पहले गणेशवाहन बना, तो वह इसलिए कि किसी आदिम जाति के खेतों में इस प्राणी ने बहुत बड़ा उत्पात मचाया था। उसे प्रसन्न करने के लिये गण के देवता का वाहन बना देने से, या वाहनों का इंचार्ज सचिव बना देने से उसकी मुफ्त खाने की आदत कम थोड़े ही हो जाती है!

'चूहे और आदमी..... ....।'

केशो इसी पशोपेश में पड़ा था कि क्या धर्म की महिमा है? देवता के सपर्क से चूहे तक पूज जाते हैं। माँग्या ने उसे धौंस दी और कहा—'इस कोटि तीर्थ में हाथ-पैर धोलो। बेलपत्री लो और अदर नीचे चलो।'

'महाकाल, महाकाल।' जय शिव शंभो! 'शंकर, शंकर, काँटा लगे न कंकर।' कहते हुए कई भद्र भक्त-गण निरंतर उस अंधी सुरंग में चले जाते थे, और चींटियों की तरह बाहर चले आ रहे थे। चींटी के मुँह में चीनी का दाना होता है, जो वह अपने गाढ़े दिनों के लिए सगृहीत कर रखती है। पर इस बेचारे उपासक के हाथ में सिर्फ भस्म की पुड़िया होती है, जो अगले जन्मों के लिए शायद पुण्य-संचय के काम आये। भक्त के लिए चिता-भस्म भी उतनी ही अमूर्त है, जितनी कि उससे पायी जाने वाली फल की कामना। यहाँ सब भावना का खेल है।

अँधेरे व छोटे-से गलियारे से गुजरते हुए बेलतीर्थ-पानी से चिपचिप हुए पैरों को फिसलने से बचाते, केशो जब उस दम देने वाले महालिंग को "सालुका" के पास पहुँचा, तो अखंड जाप, अभिषेक, नाम-घोष से कान बहरे हुए जाते थे। साथ में चंदन, कपूर, सड़े हुए बेलपत्र और पारिजात के फूलों की मिश्रित गंध उसमें और भी घुटन भरे दे रही थी। शिवजी के पैर दबाने के बहाने भक्त जन उनके आस-पास की बड़ी भारी सर्पयुक्त पीठिका पर झुक रहे थे। माँग्या भी झुका और उसने फिर हाथ जोड़ कर आँखें मूँदकर 'शिव-शंकर, शिव-शंकर' का

जोरों से नाम-घोष किया। प्रदक्षिणा करते हुए उसने अँधेरे में जरा कमर खुजलाई, पुजारी से तीर्थ प्रसाद लिया और बाहर चला आया।

सीढ़ियाँ चढ़कर, लंगड़े-लूले भिखारियों की साग्रह गिड़गिड़ाहट से बचकर वे खुले आँगन में आये, तो माँग्या ने अपनी धोती की काछ की गाँठ से एक चमकता हुआ कलदार निकाला और आँखें चमकाकर बोला—'केशो ! यह महाकाल देवता का प्रसाद है।'

केशो हतबुद्धि-सा, काठमारा-सा, पथराया-सा खड़ा रहा—वह कुछ बोल नहीं पाया। मानो वह यह कहना चाहता हो कि 'तुम्हारी ऐसी हिम्मत कैसे हो सकी ? देवता के चढ़ावे में से चोरी से सिक्का उड़ा लेना महापाप है—'

पर माँग्या ने जैसे उस पाप को बदन पर चढ़ने वाले झींगुर की तरह चुटकी से उड़ा दिया। उसने बड़े सहज भाव से कहा—'इसमें कौन-सा पाप है ! केशो, तुम बुद्धू-के-बुद्धू रहे—शहर में तो यह आम रिवाज है। एक आदमी दूसरे की जेब के पैसे अपनी जेब में कैसे ले आये—उसकी आँखों में धूल फेंककर, हाथ की सफाई से—यही सब विद्या तो यहाँ पढ़ाई जाती है। जो जितनी चतुराई से दूसरे की जेब से पैसा निकाल सकता है, उतना ही बड़ा व्यापारी, उतना ही बड़ा वकील-बालिस्टर, उतना ही बड़ा डाक्टर कहलाता है ! यहाँ पढ़ाई-लिखाई सब इसी बात की होती है। समझे !'

केशो को एक और नए रहस्य का पता चला। अब तक उसका विश्वास था कि पढ़ाई-लिखाई के स्थान, ये मन्दिर, ये बड़े-बड़े कार्यालयों की इमारतें—बड़े पवित्र स्थान हैं। ये ऐसी जगहें हैं, जहाँ मनुष्य में जो कुछ अच्छा और गर्व करने योग्य है, उसे उभार मिलता है, उसे बढ़ावा मिलता है,—उसकी धार तेज की जाती है। पर आज पता चला कि यहाँ पाप और पुण्य की सीमा-रेखा मिटाई जाती है, विवेक की धार भुथरी की जाती है, स्वार्थ की रोटी दूसरे की चिता पर सेकी जाती है। गला काटने की सफाई का नाम ही परोपकार है। केशो को शहर में पद-पद पर अपने मन में बड़े जतन से सम्भाल कर रखी हुई व्याख्याएँ और परिभाषाएँ आमूल

बदलनी पड़ रही थीं। वह नहीं सोच पाता था कि आदमी भी इतना बुरा हो सकता है?

मसलन उस दिन की एक छोटी-सी घटना, एक बेचारी बुढ़िया भगतिन उस शिव की पिण्डी पर अपनी संचित कमाई का एक रुपया रखती है और 'माँगी राम उसे उड़ा लेता है—बेल पत्रों का अम्बार और आस-पास के भीड़-भड़क्के और धुँधली रोशनी का फायदा उठा कर—'इस पाप के लिए वह कहाँ-कहाँ जवाब देता फिरेगा?' केशो के भोले मन ने मन-ही-मन मांग्या को सजा दे दी कि 'इसे तो कुंभीपाक नर्क भी कम होगा। यमदूत चित्रगुप्त के घर—इसकी आँखें निकलवा कर, इसके साथ बर्बर, नृशंस व्यवहार करेंगे।

पर मांग्या का मन इतना कोमल नहीं था न उसे इन सब बातों का मलाल था। वह मजहब के नाम पर होने वाली मक्कारी से सुपरिचित था। वह बोला—'क्या एक रुपये को ले बैठा है केशो? अब ये साधु ही देखो! सब के सब गाँजा—चरस-अफीम-भंग-शराब में पैसा बर्च करते हैं। ये भगत लोग समझते हैं कि बड़े अवतारी पुरुष, बड़े सिद्ध और औलिया हैं और जरूर मानता पूरी करेंगे। पर यह सब गलत है। ये खुद अपना ही पेट नहीं भर सकते—दूसरों का क्या कल्याण करेंगे?

आखिर केशो से रहा नहीं गया। ऐसी बातें सुनकर उबल पड़ा—'मांग्या तो अपने 'बाप-दादा' मूर्ख थे—? उन्होंने ये सब धर्म-कर्म काहे के लिए लगा दिये? क्या उसका कोई अर्थ ही नहीं?'

मांग्या बहुत चतुर था। उसने सोचा बहस में पड़ना अच्छा नहीं है। विषय बदल कर बोला—'बाप-दादों की बाप-दादा जानें। अपने राम को तो बड़ी भूख लगी है!'

और वे लोग पेट-पूजा करने मगरमोहे की गली में चले गये।

मगरमोहे के पास की एक गली में पहुँच कर केशो ने पूँछ-ताछ शुरू की—'रखबदास मारवाड़ी का मकान किधर है?'

एक हलवाई ने पूछा—'क्यों?'

'वहाँ पुरसोत्तम रहता था ?'

'पुरुसोत्तम कौन ?'

'वही शुजारुपुर वाला।'

'ओह, वह तो मिल में गया होगा, उसकी लुगाई होगी तो होगी ? नही तो किसी पंडे के यहाँ पड़ी होगी। उधर पीपल की तरफ चलकर दाहिनी ओर चले जाना।'

उस जमाने में मगरमोहे की इन गलियों मे पंडों की, मंदिर के पुजारियों की बस्ती थी। उनकी स्त्रियाँ मालव-सुन्दरियों के ऐतिहासिक वर्णनों से होड़ करतीं, मल्लिका-मालती जसी मधुर होती थीं। अवंतिका का वह हिस्सा अभी भी एक दूसरे ही लोक में रहता था, वहाँ की दुनिया के बाहर क्या होता था उससे जैसे लोग अनभिज्ञ थे। समय आकर वहाँ अपनी चपलता भूल गया था, और सुस्त अजगर की तरह कुंडली मारकर, जमकर बैठ गया था।

वहाँ एक पुराने ढंग के काठ के घड़े के ऊपर कार्निसों पर बने हुए दरवाजे पर जाकर केशो ने दस्तक दी। अन्दर से कोई आवाज नही आई। फिर वह जोर से पुकारने लगा—'पुरसोत्तम ? ओ पुरसोत्तम की बहू !'

अन्दर से किसी के कुंडी खोलने की आवाज हुई।

और घूँघट आधी आँखों तक खीचे एक युवती ने दरवाजे की ओट से कहा—'मील में गये हैं, आज उनकी रात पाली नही थी।

केशो ने कहा—'मुझे पिछाणा नही ? हूँ केशो !'

'भैयो !'

अभी भी उन काजल-आँजी नीली आँखों में आश्वस्ति का भाव नहीं जगा। वह केशो के साथ के आदमी को देखकर जैसे सकपका गई। बोली—'केशो राम जी शुजारु पुर वाला।'

—'हाँ।'

'—पधारो।'

अब वह दरवाजे से हट कर अन्दर चली गयी। एक मैली-सी दरी उसने बिछा दी।

केशो और माँगीराम दोनों अन्दर जाकर बैठ गये।

'—पाणी-वाणी पियो!'

केशो ने बताया कि नहीं, ऐसी तो कोई आवश्यकता नहीं है। वे अभी ढाबे में भोजन करके आ रहे हैं, शाम को इन्दौर चले जायेंगे। केशो ने यह भी बताया कि मिल में कोई काम खोजने के लिए वह जा रहा है।

इस पर जैसे गौरी के हृदय का कोई सुप्त-तार किसी ने छेड़ दिया। बोली—'मिल की नौकरी बहुत ही खराब है, कभी मत करना। एक तो आदमी घर पर नहीं रहता, रात-रात भर जागना पड़ता है और बाद में वहाँ नशा-पत्ती भी बहुत होता है, पैसा बहुत कम हाथ में आता है। पुरसोत्तम बुरी सोहबत में पड़ गया है और अब तो ताड़ी के बिना उसका काम ही नहीं चलता। घर में कोई बाल-बच्चा नहीं है, और अड़ोस-पड़ोस के बाभन-पडे बहुत बदमाश हैं। परसोत्तम का एक दोस्त 'डिसलरी' शराबखाने मे काम करता है। वहाँ मजदूरों को मजूरी के अलावा एक बालटी भर शराब शाम को मुफ्त में दे दी जाती है। वह इनके मुँह लग गयी है। ये घर आकर या तो सोते रहते है या मारपीट करते हैं। हालत बहुत बुरी है।' कहानी सुनाते-सुनाते उसका गला भर आया। ऐसा आत्मीय जो उस पर करुणा बरसाये बरसों से गौरी को मिला नहीं था। गौरी नही मानी, साग्रह उसने उन्हें चाय बनाकर पिलाई और फिर भारी मन, उदास होकर केशो उस घर से बाहर आया। जैसे उसकी भावनाओं के पैरों में मन-मन भर के शीशे के कड़े बाँध दिये गये हों।

घर से बाहर आकर केशो ने माँगी से कहा, 'सुना, मिल के मजे? तुम कहते थे, ये सुख हैं परसोत्तम भाई को और उसकी बीबी को?'

माँगीलाल अपनी हमेशा की आदत के हिसाब से बोला—'इसमें इसी औरत का कोई दोष है। मिल का क्या दोष है?'

केशो को अपनी छोटी भाभी से कुछ क्षणों में ही जैसे अपार सहानुभूति हो गयी थी, उसने कहा—'भले मनुष्यों पर ही

दुःख का पहाड़ इस तरह क्यों टूटता है, कहते हैं कि ईश्वर समदर्शी है, उसके राज में अन्याय नहीं है। पर दुनिया में देखो तो, जो जितना ही अच्छा है, उतना ही दुःख में है।'

माँगीलाल बोला--'इसीलिए मैं कहता हूँ दोस्त केशो! कहाँ के धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य के चक्कर में पड़े हो! खाओ-पीओ, मीत! मौज करो! ये सब काम बुढ़ापे के हैं कि सुमिरनी हाथ में ले लो और राम भजन करने बैठो! समझे केशो! दुःख-सुख की फिकर खाली पेट नहीं हुआ करती।'

पर मांगी का यह सीधा-सादा नुस्खा केशो की समझ में नहीं आता था। उसको बार-बार ख्याल हो आता था कि बाप ने बचपन में रामायण क्यों पढ़कर सुनायी थी? क्यों रानी ने सब देवी-देवताओं की कहानियाँ सुनाई थी? क्या इसी दिन के लिए कि चूहे की पूजा हो और गणेश जी उसके चरणों में बैठ कर अपनी सूंड़ उठा कर इस तरह सलाम कर रहे हों जैसे चिड़ियाखाने में पालतू 'बेबी एलीफंट' बिस्कुट के लिये उठाता है?

माँगीलाल ने कहा--'पुरुषोत्तम शराब पीता है तो उसकी फिकर में तुम क्यों दुबले हुए जा रहे हो? केशो, अभी तुमने दुनिया की अच्छी-अच्छी बातें ही देखी हैं। अभी आगे-आगे देखते जाओ--बहुत कुछ देखने को मिलेगा। यों कदम-कदम पर आँसू बहाने बैठोगे तो सिर्फ तुम्हारी नजर धुँधली होगी। देखी जाने वाली चीज में फर्क नहीं आयेगा।' यह कह कर वह ठठाकर हँस पड़ा।

केशो को यह हँसी आग की तरह लगी। उसके सपने झर-झर कर पीले पत्तों से गिर रहे थे, जैसे उनमें किसी ने पलीता लगा दिया हो।

वह सोच रहा था गौरी की आँखों में भी आँसू थे। वे आँखें उस ठंडे कूप या बावली की तरह थी जो बरगद या नीम की छाँह में, कहीं एकान्त में, अविचलित सोते हुए जल की प्यास लिये हुए पड़ी हों। उनमें कोई दर्द से उठने वाला प्रतिहिंसा का रोष नहीं था, कोई वितृष्णा नहीं थी--कोई ऐसा भाव नहीं था

जो पुरसोत्तम जैसों को उन आँसुओं की बाढ़ मे डुबो देना चाहती हों। उनमे नारी-सुलभ करुणा का भाव था, उसमें युग-युग से नारी जो चिरंतन मातृत्व अपने आप में लिये चली आती है, उसका ही एक मर्मर-ध्वनि से बहने वाला, एकांकी, निर्झर संगीत था। उन आँखो की सजलता मे भावना का कोई ऐसा उद्रेक था, जो कि धरती की कठोरता मे प्रसुप्त किसी जीवनमयी 'हीर' का प्रतिबिम्ब था। धरती और पानी के तत्व स्त्री मे किस स्रष्टा ने मिला दिये है ?'

केशो का भोला मन ऐसी कितनी ही संवेदनाओं से भरा था। स्टेशन पास आ रहा था पर उसका विचार मनुष्य की इन दो सीमाओं के बीच झूल रहा था। 'एक ओर तो मंदिर के देवता के चरणो मे चढ़ाई हुई निधि को बिना डर और सन्देह के चुराने वाले माँगीलाल जैसे पक्के बदमाश है; और दूसरी ओर, जैसा कि सुना गया अपना तन बेच कर भी शराबी पति की सेवा-भाव से पूजा करने वाली निष्ठामयी गौरी जैसी देवियाँ है ! मनुष्य कैसी विचित्र सृष्टि है--कितनी महान, कितनी पतित ! कितनी ऊँची, कितनी गिरी हुई--कितनी सम्भावनाये इसमें है--अच्छी भी, बुरी भी !'

फिर माँगीलाल केशो को इस धरती पर उतार लाया। उसने केशव को एक धौल जमायी और कहा--'इन्दौर का टिकट लेना है, पैसे निकाल !'

केशो ने कहा--'तुम अपनी कमाई को क्यों नही छूते !'

माँगी बोला--'वह 'मेरी' कमाई है ! उसे तो तुम पाप की कहते हो, न ? तो अच्छा यही सही--मै उसकी भंग पी जाऊँगा। तुम्हें उससे क्या ?'

केशो ने कहा--'माँगीलाल अब तुम-हम साथ है, अपनी अच्छाई-बुराई हम एक-दूसरे से छुपायेगे नही। हम दोनों अपना सुख-दुख बाँध कर चलेगे, नही तो परदेस मे हमारा है कौन ? एक मात्र भगवान का ही तो भरोसा है।'

माँगी बोला--'भगवान कोई मदद नही करते। हमें इन्दौर में चल कर पन्नालाल मिल के भगवान से मिलना है, वही

जी को भूल जाओ, इनसे निकम्मे पंडों तक को रोजी नही मिलती। वे भी अब कही किसी राजा-महाराजा के यहाँ कुडलियाँ देखते या हाथ बाँचते फिरते है !'

केशो ने इस पर कहा, 'सड़क के किनारे ये बूढ़े से ज्योतिषी जी महाराज बैठे है--उन्हे एक आना देकर मै अपना भविष्य जानना चाहता हूँ।' माँगीलाल का भविष्य पर जरा भी विश्वास नही था। वह वर्तमान को, और उसमें भी इसी क्षण को सत्य मान कर चलता था। वह इस क्षण का सामाजिक दायित्व अगले क्षण पर नहीं डालना चाहता था, इसके लिये प्रतिक्षण उसकी नैतिकता की व्याख्या बदलती रहती थी।

पर केशो के लिये मनुष्य के व्यापार पशुओं के व्यापार की तरह से इस क्षण को अगले क्षण के लिए भुलाने वाले नही हैं। आज जो भेड़िये के लिये भाई है, मरने पर वही भोज्य बन जाता है; मकड़ी के लिये जो प्रियतर है, अगले क्षण वही खाद्य है; नागिन अपने बच्चों को निगल जाती है। पर मनुष्य को चातक इसीलिये प्रिय है कि उसकी टेक इतनी पक्की है कि वाण लग कर पानी में गिरते हुए भी वह चोंच पानी से नहीं छुआता; सारस उसे इसी-लिये भाते हैं कि वे जोड़े से रहते हैं और अकेला सारस जल्दी मर जाता है। हिरण उसे इसीलिये अच्छे लगते है कि वे निरीह हैं। निरन्तर अच्छा और अपने अनुकूल खोजने की टोह का ही नाम है मनुष्य की सभ्यता !

और इस सभ्यता के आनन्द-रत फल में पहला कीट यदि आकर लगा—अनजाने घुसा तो वह था मशीन ! यंत्र-सभ्यता में आकर मनुष्य का मन, भावना, शरीर, विचार, राग-द्वेष--सब जैसे घुन-लगे से हो गये। वह चाहता कुछ है, करता कुछ और है।

मगर इस मशीन रूपी टैन्टैलस का आकर्षण बड़ा प्रबल है। इस मोहिनी ने कई मानवों को भस्मासुर बना दिया। केशो भी बड़े शहर इन्दौर की ओर खिंचता हुआ जा रहा है। जहाँ दर्जनों मिलें हैं, हजारों मजदूर है, जहाँ पैसा श्रम मे से यों झरता है जैसे वह प्राकृतिक क्रिया हो।

पर माँगीलाल ने कहा--'शहर मे भी बडी बेकारी है। वहाँ भी भगवान जावर को चाँदी की दच्छिना चढ़ाये बिना नौकरी थोड़े ही मिलती है!'

'अगर मशीन ने आदमी को ज्यादा सुख दिया, तो क्यों है बेकारी?'

पर ये सब अर्थशास्त्र के प्रश्न समझने के लिये केशो ने या समझाने के लिये माँगीलाल ने क्या कोई ग्रंथ पढ़े है? क्या उन्हें टौसिग, जी० डी० एच०, मार्क्स और वेद के नाम मालूम है? और जिन्हे मालूम भी है उन्होंने इस सवाल का समाधान कहाँ दे दिया है? समाधान आँकड़ों में कहाँ है?

आँकड़ों के पीछे आदमी है। मशीन आदमी को आँकड़ों में परिवर्तित करती है। केशो और माँगीलाल अब केशो और माँगी-लाल बनकर आगे इस कहानी में नहीं मिलेंगे। वे मिल के नम्बर बन जायेंगे, वार्पिंग खाते में नम्बर दो सौ तीस और दो सौ पच्चीस।

जीवन के यंत्र का यही अभिशाप है कि उसकी गति रुक नहीं सकती, इसका शक्ति-स्रोत कही और है। सिक्कों की टकसाल, पेनल कोड के बनाने वाले दिमाग या यांत्रिक युग के सुख और निरंतर सुख बरसाने वाले यान्त्रिक साधन उसे नही पैदा कर सकते!

मनुष्य मरने के बाद जी नहीं सकता। मशीन टूट गयी तो दूसरी बन सकती है!

—:०:—

: ४ :

जब उज्जैन से माँगी और केशो ट्रेन में चढ़ने लगे तो एक अजीब दृश्य नजर आया। ट्रेन पर बहुत से विद्यार्थी, मारवाड़ी, व्यापारी और कुछ सरकारी अफसरों का जमघट-सा था और सब

लोग एक आदमी को घेरे हुए थे जो लम्बे बालों वाला, लम्बी शाल ओढ़े, खद्दर का कुर्ता और धोती पहने हुए बीच मे खड़ा था।

पूछ-ताछ करने पर पता लगा कि यह हिन्दी के गीतकार और प्रसिद्ध कवि मुरारी हैं, जो किसी कविसम्मेलन के लिये वहाँ पधारे हैं, और उन्हें पहुँचाने के लिए इतने रसिक जन वहाँ उपस्थित हैं। सन् '३४-'३५ में, हिन्दी-कवि आज ही की तरह जनता के लिये एक अजूबा तमाशा था। विशेषतः राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश जैसे प्रदेशों मे हिन्दी का कवि एक वैसी ही दर्शनीय वस्तु था, जैसे कोई 'जू' का नया प्राणी हो। फिर उसमें कवि मुरारी तो अपने-आप में एक चीज थे! वे बेसन और दही से अपने बाल धोने में दो घण्टा लगाते थे, बड़े ही सुकुमार माने जाते थे, यद्यपि उनकी आयु सुकुमारता को कभी की पार कर चुकी थी—लम्बे बालों की एक वेणी-सी सामने कंधे पर ले लेते थे। आँखों में सुरमा आँजते थे और सदा पान खाते रहते थे जिसकी पीक के दाग उनके रेशमी शर्ट पर दिखाई पड़ते थे। पढ़ाई-लिखाई अजहद मामूली थी। पर प्रेम-गीत लिखने में उनके जोड़ का आदमी अखिल भारतीय यानी हिन्दी संसार में कोई नहीं था, ऐसा माना जाता था। कवि मुरारी का कोई कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं था, क्योंकि अपनी सब रचनाएँ उन्हें कण्ठस्थ थी। श्रोताजन कहते थे कि उनकी आवाज मे बड़ा दर्द और सोज़ है। आलोचक विश्वेन्द्र के शब्दो मे 'उनकी कविता पर संगीत का बंधन लगाना तितली के पंखों को लोहे की कड़ियाँ पहनना है। यदि पंत की कविता हिमालय है, बच्चन की कविता गंगा है, तो कवि मुरारी की गीति-रचना सपाट मैदान जैसी है, जिस पर हरी घास बहुत है। एक मसखरे ने अन्तिम वाक्य मे जोड़ दिया था—पर चरने वाला कोई नहीं है (यानी रसिक कोई नही है)।

आलोचक विश्वेन्द्र एक इन्टर कालेज में अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते टेक्स्ट-बुक लिख-लिखकर हिन्दी के मूर्धन्य मम्मट और मिडिल्टन हो चुके थे। वैसे मुरारी उनके दूर के रिश्तेदार भी लगते थे। उन दोनों के विचार से हिन्दी में विद्यापति और सूर के बाद 'भावों की गहराई, प्रणय की प्रकारान्तरता, विदग्धता और वाग्वैदग्ध्य

मे यदि कोई गीत-कवि था, तो केवल मुरारी !' आख्यायिका विश्रुत थी कि बुखारी ने जो आल इण्डिया मुशायरा-कम-कवि सम्मेलन कराय, था, तो उसमे एक बोतल के साथ-साथ पचास रुपया एक्स्ट्रा फीस मुरारी को दी गई थी। मुरारी की कविता में मनोरञ्जन खोजनेवाले के लिये मनोरञ्जन था और अध्यात्म खोजने वाले के लिये अध्यात्म ! कविता क्या थी। पचमेल मिठाई थी। राष्ट्रीयता का रस उसमे "झिलमिलाता" था...और वासना के पवित्र रूप, दैवी प्रेम का तो यह हाल था कि जनश्रुति के अनुसार सौ से ऊपर लड़कियाँ मुरारी को प्रेम-पत्र लिखा करती थी और उससे भी अधिक श्रोताओ ने उनके फोटो माँगे थे। इस देश में कई प्रकार का गुरुडम चलता था, यह कविडम था। पर यह सब इस रहस्यमय व्यक्ति को और हास्यास्पद बना देता था।

दुर्भाग्य से कवि मुरारी और उनके प्रधान चेले नागरचन्द्र उसी डिब्बे में घुसे जिसमें केशो और माँगीराम बैठे थे और उनकी सीटें पास-पास थी। बड़ी देर तक जनता के कवि कहकर जिन्हें गौरवान्वित किया जाता था उन गीतकार मुरारी की बातचीत का मतलब केशो या माँगी के पल्ले बिलकुल नही पड़ा।

अतः नागरचन्द्र जी ने केशो को बुद्धू समझकर घुड़का—'मामा, (मालवी और भीलो मे एकदम गँवार आदमी के लिये शब्द) जरा उधर बैठि जा। जानते नही, कविवर मुरारी जी थक गये हैं। एक दिन मे चार कवि गोष्ठियाँ और दो कवि-सम्मेलन आपने चमकाये है।'

मुरारी जी चहके—'सिगरेटे चुक गई क्या ? अच्छा बीड़ी के बडल से ही मेरा काम चल जायगा।'

नागरचन्द्र ने शिष्य भाव से पूछा—'गुरुदेव, आप सदा आसान चीज की ओर ही क्यों झुकते है ? आपने एक बार फरमाया था कि अगर दो लड़कियाँ मेरी चहेती हों, तो जिसे पाने में मुझे कष्ट होगा उसे मै छोड़ दूँगा और जो सहज मिल जायेगी उसे अपना लूँगा। अगर इसी तरह सोचें तो तुकान्त कविता तो मुझे महा

कष्टमय जान पड़ती है मुक्त-छंद में लिखना नितान्त आसान है। तो आपने आज तक इस प्रकार की रचना क्यों नही की ?'

दबी जबान में कवि मुरारी बोले—'अबे मूर्ख ! किसने तुझे कहा कि मुक्तछंद आसान है ? उसमे तो पोल खुल जाती है। गीत का मामला सीधा है—एक पंक्ति महादेवी की, एक बच्चन की, एक निराला की, एक प्रदीप सिनेमा गीतकार की जोड़ दें—आसानी से गीत फिट हो जाती है। तुक का यहाँ बडा सहारा है, बँधा-बँधाया रास्ता है। जैसे बैलगाड़ी वाला रात को सो जाता है, लीक-लीक गाड़ी चली जाती वैसे ही मै एक बार कविसम्मेलन में गीत पढ़ना शुरू कर देता हूँ, तो फिर किसी की मजाल है कि ब्रेक लगा सके—तुक के बाद तुक फिसलते हुए चले आते हैं। सुनने वालों को भी कुछ सिनेमा का-सा, और कुछ सुपरिचित-सा आनन्द आता है। इसी जुगाली का नाम शाश्वत चिरंतन रस है ! हमारे आलोचक विश्वेन्द्र जी मुझ पर 'एक अध्ययन' लिख रहे हैं, उसमे इसी को चर्वणा कहा है ! मुँह से बहुत अधिक चर्वित पान की एक पीक की पिचकारी खिड़की से थूकते हुए मुरारी जी ने अपनी सुकुमार देह को इस प्रकार प्रसारित किया कि उनकी गोद में शिशुवत् नागरचन्द्र जी भी सविभ्रम बैठ सकें।

नागरचन्द्र जी ने फिर माँगी को घुड़का—'देखते नही कविवर सोये हैं ? तुम लोग पैर फैलाने की भी जगह नही देते ! ऐं ? राष्ट्र-भाषा का कैसा दुर्भाग्य है ? हमारा कृषक समाज अभी कितना अज्ञान-पंक में ग्रस्त है ?...'

माँगी और जमकर बैठ गया। कड़क कर बोला—'ये सोने का डिब्बा है ? हमने भी पैसे देकर टिकिट खरीदा है, समझे बाबू साहब ! ये अपनी धोखे-धड़ी वाली धौंस और कहीं दिखाना !'

अब लगता था कि डिब्बे में हंगामा मचेगा, सीन पैदा हो जायेगा। पर हुआ कुछ नही। शिष्योत्तम नागरचन्द्र जी सुकुमार थे—वे अभी फर्स्ट ईयर में पढ़ रहे थे और उनके लिये इतना ही एक वाक्य काफी था। वे खिसक गये, और जेब से अपनी नन्हीं-

सी नोटबुक निकालकर 'दर्द की तस्वीर' नाम के अपने हस्तलिखित कविता-संग्रह का एकांत भाव से पारायण करने लगे।

गाड़ी इस तरह एक महाकवि और उसके चेले को लिये जा रही थी कि माँगी ने केशो से कहा—'केशो ! सो मत जाना, फतियाबाद में गाड़ी बदलनी पड़ती है !'

केशो बोले—'हाँ ! यार थक गये हैं, बहुत चलना पड़ा !'

माँगी—'अभी क्या है, जब कपड़ा मिल के कम्पाउण्ड में जाना पड़ेगा, तो याद आ जायगा छठी का दूध।'

केशो ने कहा—'बड़े सबेरे मिल जाना होता है क्या ?'

माँगी—'जब आँखें भी नहीं खुलतीं तब जोर से मिल की सीटी बोलती है—भोंपू ऐसा डरावना होता है कि याद रखो—तभी से भागे-भागे पहुँचो, तो मिल मे वक्त से पहुँच जाओ, नहीं तो फिर फाटक बंद। फाटक पर वह लम्बूतरा तगड़ा पठान खड़ा रहता है। कभी उसका सोटा देखा नहीं होगा ? देर हो गयी तो टैम-कीपर उसका हिसाब रखता है, पगार में से पैसे कट जाते हैं—समझे। और फिर हैड-जाबर अलग से आँखें दिखाता है।'

केशो सुनता जाता था और ऊँघ रहा था।

कवि जी भी ऊँघ रहे थे—परन्तु उनके अर्धसुप्त मन के सपने और थे—वे तथा विश्वेन्द्र जी मिलकर हिन्दी कविता का एक प्रतिनिधि संकलन बनाने की सोच रहे थे—नागरचन्द्र ने उनकी इतनी सेवा-टहल की थी कि उसकी रचनाएँ तो इस संग्रह में वे अवश्य ही देंगे—और कवयित्री क्रांतिकुमारी—वाह-वाह ! उन्हे भला कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होंने तो कवि मुरारी से सम्मति माँगी थी। और कवि मुरारी ने दो पन्ने सम्मति देते हुए यह लिखा था कि—'श्रीमती क्रांतिकुमारी जी के हाथ के बने पकौड़े आदि खाने का सौभाग्य मुझे कई बार मिला है। मेरे मत से हिन्दी काव्य जगत् का सबसे चमचमाता नक्षत्र, सबसे देदीप्यमान प्रतिभा कुमारी जी ही है। यद्यपि वे श्रीमती है, फिर भी मेरे लेखे वे कुमारी ही हैं। इनके प्रेमगीत पढ़ते समय मेरे शरीर पर रोमांच

हो जाता है। ऐसा वेदना से भरा हुआ हृदय बहुत कम नारियों ने पाया होगा...इत्यादि इत्यादि।'

पर केशो जो ऊँघ रहा था—वह और ही कुछ सोच रहा था—उसके दिमाग मे मिल एक विशालकाय अहि रावण—महि-रावण का रूप ग्रहण करके सामने आ रही थी, उसके लाल-लाल जबड़े है, अकराल-विकराल उसके दाँत हैं, लपलपाती जिह्वा है। त्रिनेत्र है। नौ-भुजाओ में परशु, पाश, खड्ग, त्रिशूल, दराँती, हथौड़ा और राजदण्ड भी है। इस यंत्र-दानव का प्रिय पेय है—गाँवो का स्वास्थ्यरस! केशो के सामने यह यन्त्र-दानव मोटे-मोटे ग्रंथ पढ़ रहा है—देखते-देखते वह चश्मा पहनने वाले गंजे वकील का रूप धारण करता है। उसके हाथ में एक लोहे का काँटा है जो 'तिक्-तिक्' करके इन मजदूर मानवों की त्वचा में चुभता जाता है। जो रक्त बाहर निकलता है, उसे देख-देखकर वह खुश होता है—वह उस अर्द्ध-पशु, अर्द्ध-राक्षस, यंत्र रूपी विशालकाय दानव के नीचे पिसता जा रहा है।

केशो के मन में भय है, कुतूहल है, आशंका है, साहस का आनन्द है। सोचते-सोचते उसे कब झपकी लग गयी, कब फतेहा-बाद आया, पता नहीं लगा।

फतेहाबाद (चन्द्रावती गंज) स्टेशन एक दम रूखा और निर्जन था। मालवे की सुहानी चाँदनी, लंबे-लंबे मैदानों पर पड़ी हुई दूर तक पालाहा के छोटे-छोटे पेड़ों को चमका रही थी, पर वहाँ और कोई भी आकर्षण नही था। एक मुसाफिरखाना था, जो कौआ-रोर से भरा, एकदम गन्दा और असह्य था। केशो और माँगीलाल ने अपने छोटे-से सामान को वही रख दिया और जब-तक माँगीलाल बीड़ी खरीदने गया केशो रखवाली करता बैठा रहा।

कवि मुरारी और उनके चेले को यहाँ पर सहसा बाँकेलाल-छैलबिहारी मिल गये, आपकी एक कपड़े की दूकान उज्जैन में थी और इन्दौर मे इन्होने एक किताबों की दूकान शुरू की थी। ज्यादातर काम कोर्स बुक का ही चलता था, पर राष्ट्रीय-वृत्ति के होने से कुछ गांधी-साहित्य भी छापते थे।

चेला नागरचन्द्र सेठ जी को जानता था, उसने उन्हें कवि जी से मिलाया।

'ओ हो, हो ! परिचय पाई ने घणों आनन्द भयो !'

नागरचन्द्र ने उन्हें चाय पिलायी। और पूछा--'आप कविता की किताब नही छापते ?'

बाँकेलाल बोले--'हें, हें, हें, जी--आपणो तो ये जो बिजिणस है के किताब छापी ने कोर्स हो जाय जल्दी से।'

नागरचन्द्र ने धीमे से कहा--'कोर्स मे किताब लगाना तो आपके बाँये हाथ का खेल है, उसमे क्या है ? प्रो..को इतने रुपये चटा दिये, उधर कोर्स बुक कमेटी के चेयरमैन को डाली पहुँचा दी, और पौ बारह...बात सच है ?'

बाँकेलाल ने चेहरा जरा गिराकर कहा--'नही बात इतनी आसान नही है। बहुत-सी बाधाएँ है।'

अब तक योग-निद्रा के भाव मे सिगरेट फूंकते कवि मुरारी ने इस तरह बात की, जैसे डकार ले रहे हो। बोले--'आप कोई चिन्ता न करें। नागरचन्द्र का और मेरा नाम देकर एक संकलन छाप दें। हम दोनो को उसमे बीस-बीस पेज देने चाहिए, बाकी आप चाहे जो करें। पैसे की हमें चिन्ता नही है। जानते है, प्रयाग के एक बहुत बड़े पब्लिशर ने हमें ५०००) आफर किये थे, हमने अपना कविता-संग्रह छपने को नही दिया। हमे क्या मामूली कवि समझ लिया है ? आपके यहाँ के दस मिलो के मालिक सेठ बैंकर ने एक कविता पर इतनी रकम दे डालने का वादा किया था। पैसे को हम लोग ठोकर मारते हैं। अरे, जिसकी बगल में सरस्वती हो, लक्ष्मी उसके आगे हाथ जोड़ती फिरती है।'

नागरचन्द्र ने उनकी बात में और हामी जोड़ दी--'सुन लो सेठजी, इनकी बात मान लो, मालामाल हो जाओगे।'

सेठ कुछ कुचित नेत्रों से पूछने लगे--'आजकल कविजी को कौन-सी चिंता ब्यापे हुए है ?'

कविजी कुछ नही बोले।

चेले ने अर्थ समझाया—'ये आजकल जो कई नये वाद चल पड़े हैं—प्रगतिवाद, हालावाद, और रहस्यवाद, कविजी उनके चक्कर में पड़ गये हैं।'

सेठ बोले—'परगतिवाद ? मैं तो जानता था कि हुसंगाबाद के बाद एक इलाहाबाद ही है, पर यह नया फैजाबाद कौन-सा आ गया ?'

इस तरह से साहित्य के नाम पर शून्य, जाहिल और अशिक्षित प्रकाशकों ने उस जमाने मे हिन्दी के प्रकाशन-संसार को पूरा भर दिया था। कही कोई भूले-भटके नया लेखक सिर उठा लेता, वर्ना गतिरोध मूर्तिमान था। पर तब भी किताबें धड़ल्ले से छपती जा रही थी, कविता की किताबे खास तौर से सबसे ज्यादा। उनमे गुण की बात गौण थी, मुख्य बात थी कविता-ग्रन्थ छप जाना—कई कवि लोग अपनी ही जेब का पैसा लगा कर सग्रह छपवाते थे, गट्ठर बाँधकर अपने पास रखते और मित्रो को मुफ्त मे बाँटते थे—संग्रह बिके नही तो एकाध जगह टिकट लगा कर कवि सम्मेलन रखे गये, बजाय टिकट के कविता की किताब उस जगह रख दी गई। ओर इस तरह कवि लोग कोशिश कर रहे थे कि कोरी कविता पर जिये, जो कि सम्भव नही था।

फिर कुछ कवि टेस्ट बुक लिखते, कुछ भड़ैती करते, कुछ उपन्यासों के नाम पर अश्लील पुस्तकें लिखते और हिन्दी साहित्य वकौल एक आलोचक के, इस प्रकार दिन दूना, रात चौगुना समृद्ध हो रहा था।

इन्दौर की गाड़ी आयी और अबकी बार सेठ जी के ऊँचे वर्ग के डिब्बे में—यानी ड्योढ़े में—कवि और उनके प्रकाशक बैठ गये। केशो और माँगीराम ने एक खचाखच भरे तृतीय श्रेणी के डिब्बे में अपने आपको और सामान को ठूँसा।

'अजनादे' आया 'पालिया' आया, धीरे-धीरे रासमण्डल की पहाड़ी दीखने लगी और दर्जनों मिलों के इस औद्योगिक शहर की बत्तियाँ दूर से जादू के देश की तरह जगमगाने लगीं।

केशो के लिये पंक्ति-बद्ध खड़ी हुई ये इतनी रोशनियाँ ऐसी जान पड़ीं, जैसे किसी जंगल में बहुत से लकड़बग्घे खड़े हों और

उनकी आँखें, कब नया शिकार फँसता है, इस अंजाद से चमक रही हों।

यंत्र की इस विशाल ट्रेजेडी का एक जुज बेचारा केशो था और यंत्र की इस विशाल ट्रेजेडी का दूसरा पुर्जा यह हास्यास्पद कवि, प्रकाशक इत्यादि थे। एक का सम्बन्ध कपड़ा-उद्योग से होने जा रहा था, दूसरे का कागज-उद्योग, मुद्रण-उद्योग, प्रेस और शिक्षा-व्यवसाय से था।

कपडा तन को ढाँकता है, शिक्षा मन को खोलती है।... शायद..! पर यहाँ कपड़ा तन को उघाड़ रहा था, शिक्षा मन को ढाँक रही थी।

जो गाढ़ा पसीना किसी काली मिट्टी के खेत में कपास और गेहूँ उगाता—आज 'मशीनाय स्वाहा' होने जा रहा था। जो कविता कभी वाल्मीकि के अरुण आँसुओं से युगके पापी मन को धोती थी, वह आज पण्य बन चुकी थी—एक अत्यन्त हेय मुद्रा में बैठी हुई! घिघियाती हुई दीना! भिखारिणी!

'पसीन की, आँसू की कद्र करना इन्सान कब सीखेगा?'—यह दार्शनिक मनोहर का प्रश्न था—जो मौलिक उत्तर चाहता था, सतही उपचार नही।

—:०:—

: ५ :

मनोहर के मित्र शरण भी एक ही जीव थे। उन्होंने वनस्पति शास्त्र में बी० एस०-सी० किया था और बहुत दिनों तक कृषि के रोगों का अध्ययन करते रहे थे। उनका इरादा था कि कोई ऐसा काम किया जाय जिससे हिन्दुस्तान का किसान सुखी हो।

पर वह इरादा पूरा न हो सका, स्वभाव से जरा तेज थे। एक दिन आफिस मे सुपरिन्टेन्डेन्ट ने बुलाया—'आज दफ्तर में देर से क्यों आये?'

शरण ने गर्दन झुका ली ।

'मैं पूछता हूँ यही आप लोगों की मारल रिस्पॉन्सिबिलिटी (नैतिक जिम्मेदारी) है ? ये सब नौजवान यों चले आते हैं जैसे उनके बाप की ही जगह हो !'

शरण ने धीमे से कहने की कोशिश की—'सॉरी ! मेरी भतीजी....'

सुपरिन्टेन्डेन्ट के लिए इतना स्वाभिमानी युवक देखना एक नया अनुभव था । उन्होंने आव देखा न ताव—गालियाँ बकनी शुरू कीं—'ये सब झूठे बहाने मैं समझता हूँ, आपकी भतीजी से आपका कोई सम्बन्ध....'

वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाया । शरण ने उसे कसकर एक तमाचा जड़ दिया । अब तो दफ्तर में हंगामा मच गया ।

शायद पुलिस भी बीच में आ जाती । पर शरण के पिता ने बीच-बचाव करके सबको शान्त किया और सब बातें ठीक से निपटा दी गयी । पर उसी दिन शरण ने प्रतिज्ञा की कि वह अब नौकरी नहीं करेगा । सारा वनस्पति शास्त्र और विज्ञान एक ओर डालकर वह दर्शन के अध्ययन के लिए बड़े शहर में चला गया । विश्वविद्यालय में मनोहर से उसकी भेंट हो गयी । दोनों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं । दोनों स्वाभिमानी थे, दोनों अन्याय के विरोधी थे, दोनों सहृदय थे । शरण की पारिवारिक और आर्थिक स्थिति अच्छी थी पर मनोहर तो साइनबोर्ड रगकर और ट्यूशन करके पढ़ाई का खर्चा निकालता था ।

दर्शन के अध्ययन में पुस्तकों की सदा कमी रहती थी । शरण के पास पैसे की कमी नहीं थी, अतः वह ग्रन्थ खरीदता और दोनों मिलकर पढ़ते । परन्तु कुछ बातों में शरण और मनोहर में मौलिक मतभेद था । शरण 'प्यूरिटन' थे, सवेरे चार बजे उठते, ठंडे पानी से नहाते, गीता या वैदिक मंत्रों का पाठ करते और स्त्री मात्र से उन्हें घृणा थी ।

मनोहर जीवन को इतना नीरस नहीं समझता था। अच्छा संगीत, सुन्दर दृश्य, सुस्वादु भोजन या भीनी-भीनी गंध--यह सब अगर ग्रहण करने के लिए नहीं है, तो क्यों इतनी इन्द्रियाँ शरीर के साथ दी गई है। यह सही है कि अविचार स्वयं उन वासनाओं के शिकार होने वाले का शिकार कर डालता है, पर अविचार तो दूर वह साधारण सुखों को पाने जितनी भी स्थिति में नहीं था। फिर भी जितना ही अधिक उसने दर्शन पढ़ा, उसका मन उदार होने लगा और वह सोचने लगा कि मनुष्य साँचे में बाँधकर रखने जैसी चीज नहीं है।

धर्म--संकीर्ण साम्प्रदायिक अर्थों में, आचारों के और विधि-निषेध के जंजाल में उलझा हुआ धर्म--उतना ही असहनीय है जितना कि साँचे जैसा यंत्र। दोनों जीवन के चेतन और जड़ पहलुओं को जकड़ना चाहते हैं। जीवन है कि जकड़ना या जकड़ा जाना उसके स्वभाव के विपरीत है। जो बँध गया, वह उड़ क्या सकेगा?

इसलिए जब मनोहर को शरण का तार मिला--तब उसने बिना झिझके कबूल कर लिया। और अपने घरवालों की परवाह किये बिना वह इन्दौर पहुँचा। शरण तब तुकोगंज में एक बँगले में रहता था।

मिले, तो बहुत-सी सुख-दुःख की, नई-पुरानी, खट्टी-मीठी यादों की बातें होती रहीं। बाद में मनोहर ने विषय शुरू किया--'तुम्हारे तार में था कि नौकरी देंगे, यह है क्या चीज?'

'यहाँ के मजदूर संघ के मन्त्री बनोगे?'

'मजदूरों की जिन्दगी के बारे में मैं बहुत कम जानता हूँ।' मनोहर ने साफ-साफ कह दिया।

'यहाँ पहले से जानने की बात नहीं है। धीरे-धीरे तुम सब कुछ जान जाओगे।'

'काम किस तरह का होगा?'

'हर मिल में जाना, वहाँ के मजदूरों को अपनी यूनियन का मेम्बर बनाना। उनकी तकरारें कोई हों तो उन्हें दर्ज कर लेना। उन्हें जहाँ पहुँचाना हो वहाँ पहुँचाना। एक तरह से इतने बेजुबानों

की जुबान बनना, इतने बे पढ़े-लिखों को सुधारना। इस अँधेरे में ज्ञान की रोशनी पहुँचाना।'

यह बात मनोहर की आदर्शवादी प्रकृति के अनुकूल थी। उसने बहुत उत्साह से कहा--'हाँ, हाँ, क्यों नहीं?'

'तो फिर आज अखिल भारतीय मजदूर समिति के अध्यक्ष से तुम्हारी भेंट करा दें?' शरण ने फिर पूछा।

मनोहर ने हिचकिचाते हुए कहा--'तुम भी साथ रहोगे न?'

'हाँ, हाँ, मैं तो मजदूर संघ के काम में भी तुम्हारे साथ रहूँगा।'

'बहुत ठीक।'

दोनों ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि अब मजदूर-जाति का पूरा सुधार करके ही रहेंगे।

इन्दौर शहर के बीच में बाड़े के सामने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का कोई दफ्तर था, वहीं श्रीमान् जी ठहरे हुए थे। उनका असली नाम लोगों को मालूम नही था--श्रीमान् जी--श्रीमान् जी शब्द से ही सब लोग उन्हें पुकारते थे। सन् '३० के आन्दोलन मे दो बार जेल हो आये थे। एक बार चक्की पिसाई मिली थी, एक बार बड़ा फाका भी किया था।

दोपहर को शरण और मनोहर पहुँचे तो श्रीमान् जी गीता सिरहाने रखे, सो रहे थे। पता लगा कि जब-जब उन्हे सख्त सिर दर्द हो जाता है, तो वे गीता को ही--और खास तौर से गीताप्रेस वाली इस एडीशन को ही सिरहाने रख लेते है--और उसके बाद सिर-दर्द यों काफूर हो जाता है, जैसे गधे के सिर से सींग।

दोनों आकर बैठे रहे। बोल भी नहीं सकते थे, बोलते तो उनकी नींद में खलल पहुँचता। इसलिए मनोहर शून्य भाव से 'हरिजन सेवक' का अंक उठाकर पढ़ने लगा। शरण ने बाहर बरामदे मे चहलकदमी शुरू की।

गाँधी जी के गरीबी मिटाने के बारे में जो विचार थे--उनसे मनोहर को पूरा संतोष नहीं था। उसके मन में बड़ी

उतावली और अधीरता थी। वह सोचता था--इस प्रकार से भला कभी अमीरों का हृदय परिवर्तन हुआ है ? मनुष्य एक बार पैसा कमाने के चक्कर में पड़कर एक दम साँचे की तरह याँत्रिक भाव से काम करता है। वह भला कभी बदल सकता है ? परिवर्तन तो तब हो जब उसमें हृदय के तत्व बचे हों। बार-बार मनोहर इसी दुविधा के सामने आकर टकराता था कि मनुष्य की जो मनुष्यता इस स्वार्थ-यंत्र की विराट भट्ठी में झुलसकर भस्मप्राय हो गई है, उसमें कहाँ से फिर से हरारत पैदा की जा सकती है ? सन्देह का जलता हुआ गर्म सीसा मनोहर की आत्मा में घुस गया था। उसने कहीं उसके बचपन में ही ऐसे दाग पैदा कर दिये थे, जो मिटते नहीं थे।

श्रीमान् जी उठे। आँखें कुछ अधमुँदी-सी थीं। नाक पर से चश्मा उतारा, पोंछा, फिर तीक्ष्ण दृष्टि से नवागन्तुक की ओर देखने लगे। इतने में शरण आ गया और मनोहर जिस पशोपेश में पड़ा था उससे बच गया।

श्रीमान् जी ने स-प्रश्न दृष्टि से भौंहों का भाला मनोहर की ओर ताना।

शरण ने संक्षेप मे कहा--'मनोहर दूबे, दर्शन में एम० ए० किया है। मजदूरों की सेवा करना चाहते हैं।'

सूखी हँसी चेहरे पर खींचकर श्रीमान् जी ने अपने नकली दाँतों का प्रदर्शन किया--'अच्छा, अच्छा। खद्दर पहनते हैं, तो राष्ट्रीय वृत्ति के हैं। आप खद्दर कब से पहनते हैं ?'

'विद्यार्थी-दशा से', मनोहर ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'पर देखिए', श्रीमान् जी ने अब उपदेश का एक मीठा-कड़ुआ लम्बा 'डोज' पिलाना शुरू किया, 'यह जो काम आप हमारे यहाँ करने आ रहे हैं मामूली काम नहीं है। यह नौकरशाही की लाल फीतेवाली नौकरी नहीं है, कि बस आपने कागजी योजनाएँ बना लीं और उस पर बैठ गये--चुपचाप पेपर वेट की तरह से। यहाँ हम जो दो-दो आने चंदा फी मजदूर उगाहेंगे, तो हमें मजदूर के प्रति उत्तर-दायित्व भी निबाहना होगा। आप क्या समझे ? इस तरह 'ब्लैंकली'

आप मेरी ओर मत ताकिये। यह हड्डियाँ जो आप को दिखाई दे रही है ये अग्नि-परीक्षा दे चुकी हैं—जेल की कोठरी में सड़ चुकी है। कोड़े इस काया ने बहुत खाये हैं, फाके इस शरीर ने किये हैं, त्याग और तपस्या जो इस देह ने की है, उसका शतांश भी आजकल के तुम नौजवान लोग नहीं कर सकते!' उनका यह धारप्रवाह वक्तृता-प्रवाह न रुकता कि मृदुकुमला एक शीशियों-सी शिष्या अन्दर के कमरे में आई और उनसे पूछने लगी—'बापू! मुसम्बी के रस का समय हो गया है! लाऊं तो अंगूर लेंगे या अनार?'

'दोनों ले आना',—कहकर देशभक्त श्रीमान् जी ने एकाग्र भाव से कहना शुरू किया—'तो मैं क्या कह रहा था—बिना त्याग के दुनिया में कुछ नहीं हुआ है। माता बच्चे का पालन करती है, यह त्याग है, वृक्ष फल देते हैं, यह त्याग है, हम हिंसा नहीं करते हुए सत्याग्रह करते हैं, यह त्याग है। आप के लिए मैं यह समय, इतना मूल्यवान समय, दे रहा हूँ, यह त्याग है। आप नहीं जानते कि इन दिनों मैंने अन्न प्रायः त्याग दिया है। केवल फलों के रस, दूध, शाक आदि पर ही निर्वाह करता हूँ। यह त्याग किसलिए है? इसलिए कि मैं जानता हूँ कि अगर यह त्याग मैं नहीं करूंगा तो देश के जो लाखों-करोड़ों भूखे पेट पड़े हुए किसान और मजदूर भाई हैं, उनका क्या होगा?'

इतने में फलों के रस आये, खजूर आये। श्रीमान् जी ने बिना किसी को पूछे उनका स्वाद-ग्रहण करना शुरू कर दिया। खाते-खाते और पीते-पीते श्रीमान् जी बीच-बीच में आत्म-जीवनी के संस्मरणात्मक अध्यायों में उलझ जाते। सन् तीस में जब सब लोग डिस्ट्रिक्ट जेल में थे, एक बार साबुन की टिकिया को लेकर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष और मेरे बीच में वह मजेदार वाद-विवाद हुआ कि कुछ न पूछो! मैंने कहा कि 'यहाँ यद्यपि हमें जेलर की दोस्ती की वजह से 'ए' क्लास मिली है, फिर भी यही चाहिए कि हम साबुन इत्यादि का त्याग कर दें। पर भाई जी बोले कि साबुन के बिना कपड़े से मैल त्याग करने को राजी नहीं होती। इस बहस के अन्त में हमने आचार्य जी से फैसला लिया। आचार्य जी का मौन

बार था। उन्होंने सूत्र-रूप में उत्तर दिया साबुन: त्याग कपड़ों का मैल,---इनमें से कोई भी एक कम कर दीजिए। वही त्याग हो जायगा। अन्त में त्याग का त्याग करने का निश्चय किया गया।'

सब लोग स्तब्ध भाव से शिष्य रूप में सुन रहे थे। श्रीमान् जी को बात में ऐसी हँसने की क्या बात थी यह समझ में नहीं आया। फिर भी जब 'ही-ही' करके वे हँसे, तो जरूर ऐसा लगा कि इसमें कोई बहुत बड़ी हँसने लायक बात है और श्रीमान् जी अपेक्षा करते हैं कि और सब लोग हँसें। सबने हँसने की कोशिश की।

अब श्रीमान् जी मुद्दे की बात पर आए। और मनोहर से उसे क्या आता है यह पूछने लगे--

'आप को कातना आता है ?'

'नहीं ?'

'आप भाषण दे सकते हैं ?'

'क्यों नहीं ?'

'आपने मजदूरों में काम किया है ?'

'नहीं ?'

'आपने गांधी साहित्य पढ़ा है ?'

'जी हां'

'आपके ऊपर परिवार की कोई जिम्मेदारी तो नहीं है?

नहीं।'

यह अच्छा ही है। हमारी सार्वजनिक संस्थाएं ३०) प्रति मनुष्य खर्च देती हैं। आप अकेले हैं--आप को यही वेतन दिया जाएगा।'

'तीस रुपये ! इसमें काम कैसे चलेगा ?'

'तीस रुपये तो आपको रहने, भोजन आदि के मिलेंगे। वैसे जहां भी आप प्रवास करेंगे, प्रवास का खर्च अलग से मिलेगा और कोई असुविधा नहीं होगी। बीमार पड़े तो संस्था का डाक्टर है ही। बीस रुपये आप किसी डाबे को दे दीजिये--दोनों समय भोजन

आपको मिल जायेगा। और ऊपरी खर्च के लिए दस काफी हैं। आपको कोई गंदी आदत तो नहीं है ?'

शरण ने बीच में टोककर कहा—'नहीं-नहीं, ये तमाखू भी नहीं पीते और सिनेमा भी नहीं जाते। यही गंदी आदतें है न ?'

बड़े समाधान का स्मित श्रीमान् जी के मुख पर झलक गया। बोले—'तो ठीक है मनोरम जी या मनोहर जी, आप हमारे प्रान्तीय मजदूर सभा के मंत्री बंडूराम जी से मिल लीजिए। वे आप से आजीवन सेवा का व्रत ले लेंगे।'

मनोहर कुछ बोल नहीं सका। वह कहने जा रहा था कि 'आजीवन सेवा।...जी,...जी, वह तो...'

पर बिना कुछ बोले श्रीमान् जी ने अपनी घड़ी उठा ली और उनकी सेक्रेटरी, वही साँवली, बिना किनारी के फूलदार साड़ी वाली, लड़की ने घोषित किया—'अब अखिल प्रादेशिक 'हरिजन-सेवक संघ' के अध्यक्ष मिलने आ रहे है।'

नमस्कार करके शरण और मनोहर उठकर चल दिये।

शरण ने मनोहर से पूछा—'इंटरव्यू तो सफल रही। अब तुम मजदूर सघ के मंत्री बन गये, समझे ?'

मनोहर चुप था।

शरण जी ने कहा—'कितना बड़ा अधिकार, कितना बड़ा सेवा का क्षेत्र तुम्हें मिल रहा है और तुम हो कि उदास हो।'

मनोहर चुप था।

उसने प्रकट में सिर्फ कहा—'अच्छा हुआ बेकारी से भला है, कुछ अटक गये।'

उसके मन के भीतर बहुत बड़ा मंथन चल रहा था। देश-सेवा का कैसा सपना मन में आँक रखा था, और क्या उसे प्रत्यक्ष में मिला। श्रीमान् जी से भी बुरा अनुभव बंडूराम जी का था। वे ब्रह्मचारी थे और मूर्तिमान क्रोध थे। जाते ही मनोहर पर भूँक कर बोले—'आप मजदूरों की सेवा करने चले है ? मुझे तो शक है कि—'

शरण ने बीच में समझाया--'ये इकानोमिक्स के भी बड़े अच्छ विद्यार्थी रह चुके हैं।'

बंडूराम जी बोले--'होगा, होगा ! वह कालेज की पढ़ाई यहाँ काम नहीं देती। यहाँ वक्त पड़ने पर मार भी खानी पड़ती है, समझे !'

मनोहर ने शरणागत भाव से कहा--'खा लेंगे, मार भी खा लेंगे। आप कहना क्या चाहते है ?'

बंडूराम जी बोले--'ये पता है कि माहवार तीस रुपये का आजीवन व्रत लेना होगा। बाद में यहाँ से विवाह करके भाग गये तो क्या ठिकाना। यहाँ आप को बहनों के साथ भी काम करना होता है। कोई ऐसी-वैसी बात सुनाई दी.. तो...'

मनोहर चुप रहा। उसने शरण की ओर देखा। शरण ने बंडूराम जी को आश्वासन दिया कि मनोहर का चरित्र उत्तम है, और कोई 'ऐसी-वैसी' बात नहीं होगी।

बंडूराम जी ने फिर दूसरी आशंक व्यक्त की--'हिसाब-किताब रखने में आप कहाँ तक ईमानदार हैं ? कभी इस तरह का काम पहले किया था ?'

मनोहर फिर चुप रहा।

शरण ने बताया कि इस बात की ज़िम्मेदारी वह खुद लेते हैं। और मनोहर इस मामले मे बहुत प्रामाणिक है, इसमे कोई सदेह नहीं।

बंडूराम जी बोले--'आदमी का क्या भरोसा है ? संस्था है, यहाँ हजारों का वारा-न्यारा होता है। आज नही कल, पैसे दाबने की इच्छा इनके मन में आ गई तो ? कोई क्या करे ? ज़मानत के लिए कौन है ?'

शरण ने कहा--'मैं हूँ।'

जब पूरी तरह से बंडूराम जी का समाधान हो गया, तब उन्होने मनोहर से बॉण्ड भरवा लिया--'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि आजीवन ३०) माहवार में मजदूर-संघ की सेवा करता रहूँगा, विवाह नहीं

करूँगा, राष्ट्रीय हित को दृष्टि मे रख कर यह संस्था ही मेरा घर होगी ।

'ईश्वर को साक्षी रख कर मै वायदा करता हूँ कि संस्था का एक पैसा भी मै व्यक्तिगत काम मे खर्च नही करूँगा । मजदूरों की सेवा मेरा जीवन-व्रत होगा ! इस काम के आगे मै घर-बार, परिवार को व्यर्थ समझूँगा । मेरे चरित्र के विषय में नीचे दो गवाही देनेवालो के हस्ताक्षर है ।' इत्यादि-इत्यादि ।

—:०:—

: ६ :

बाण्ड भर तो दिया पर मनोहर के मन मे बार-बार यह विद्रोह उठ खड़ा होता था कि यह जो मैने किया अच्छा नही किया । उसने लिज़ा को जो पत्र लिखा, उसमे अपने मनोभाव पूरी तरह अंकित किये——

'प्रिय लिजा,

यहाँ आकर मै तुम्हे पत्र लिखने वाला था, पर कोई ऐसा समय ही नही मिला कि मै फुरसत से यहाँ जो हुआ उस पर कोई विचार कर पाऊँ । इस समय मेरे सामने दो श्रद्धाओं मे एक चुनने का ख्याल है । क्या मै नौकरी करके घर वालो के काम आऊँ, जैसा कि सभी नौकरी करने वाले करते है ? या मै घरबार छोड कर मजदूरों की सेवा मे लग जाऊँ ?

श्रद्धा अच्छी चीज है, पर उस पर भी विवेक का अंकुश जरूरी है । नही तो वह बे-मानी हो जाती है ।

मैंने इधर एक छोटा-सा लेख जैसा संस्मरण प्रभाकर माचवे का लिखा पढ़ा है । उसकी कतरन मै साथ में भेज रहा हूँ, इस आशा से कि तुम उस पर विचार करोगी और मुझे अपने और अपने पिता फादर डिक्सन के विचार लिख भेजोगी ।

क्योंकि मूलतः प्रश्न यहाँ मत-परिवर्तन कराना या धर्मान्तर कराना कहाँ तक उचित है, इस पर भी जाकर टकराता है। धर्म का मूलाधार क्या है ? निष्ठा। यदि यह बदल सकती हो तो फिर उस धर्म का अर्थ क्या है ?

क्या धर्म ऐसी वस्तु है कि एक को छोड़ कर दूसरा ग्रहण कर लिया जाय ? जीवन में ऐसे भी लोग देखने में आये हैं, जो कई प्रेयसियाँ एक साथ या एक के बाद एक रखते हैं—और सबसे प्रेम व्यक्त कर सकते हैं। क्या यह सभव है ? संभव हो तो भी उचित है ? मैं समझता हूँ कि इससे घोर आत्मिक पतन और कोई हो नहीं सकता। मुझे छूँछा आदर्शवादी न समझो।

अब मैं मजदूर-सेवा में अपनी जिंदगी बिताने जा रहा हूँ। देखना, क्या हो कर रहता है। या तो मैं ही मजदूर बन कर बचा रहूँ या मशीन का दैत्य मुझे और मजदूरों को खा जाय। दोनों संभावनाएँ हैं।

एक बार आश्रम में सायकाल की प्रार्थना के बाद एक ऐसे मद्रासी दंपति से भेंट हुई, जो गांधीजी जहाँ बैठते हैं, वहाँ आसन के नीचे की धूल रूमाल में बाँधकर ले जा रहे थे। मैंने उनसे पूछा—इस रज का आप क्या करेंगे ? उन्होंने कहा—'पूजा।'

इससे बिल्कुल उल्टे एक ऐसे, उद्धत पंजाबी महानुभाव के भी दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो प्रार्थना के पश्चात् जब गांधीजी स्वाक्षरी (आटोग्राफ) दे रहे थे, उनके बिल्कुल पास जाकर तुलसी या रुद्राक्ष की माला (जो गांधीजी प्रार्थना में जपते हैं, बाद में गले में पहिन लेते हैं) के मनके बिल्कुल छूकर आँखें फाड़कर देखने लगे, मानो उनमें कोई जादू छिपा हो। ये दोनों वृत्तियाँ गलत हैं।

व्यक्ति-पूजा या विभूति-पूजा इस हद तक न पहुँचे कि उससे हमारा विवेक ही मारा जाये। वैसे व्यक्ति-पूजा किस देश में नहीं होती ? जापान में मिकाडो के प्रति, जर्मनी में हिटलर के प्रति जनता में श्रद्धा ठूँसी जाती रही है और थी। मगर इंग्लैंड में सम्राट के प्रति [illegible]

तिस पर हमारा देश तो वैसे ही धर्म-प्रधान है। परन्तु मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि श्रद्धा अन्धी न हो, वह जागरूक और विवेक दृष्टिवाली श्रद्धा होनी चाहिए।

मुझे ऐसे भी कई नेता मालूम हैं जो गांधीजी की बातों में से एक भी आचरण में नहीं लाते, परन्तु वे अपने को गांधीवादी बराबर बताते जाते हैं। अहिंसा उनकी इतनी बड़ी है कि बात-बात पर क्रुद्ध हो उठते हैं, सत्य उनका इतना अडिग है कि एक ओर बापू के चरणों में, दूसरी ओर सरकारी युद्धोद्योग के खेमे में, पार्टियों में, व्यवसाय में हर जगह वे रहते हैं। ऐसे श्रद्धालुओं से डरना चाहिए।

धर्म के इतिहास में इसके ज्वलंत प्रमाण हैं कि जब-जब धर्म के अनुयायियों का संशय व्यक्त करने का अधिकार छिन जाता है, तब-तब धर्म अधःपात की ओर ही झुकता है। वदांती शंकर ने जब तर्क को अप्रतिष्ठित बना दिया, तार्किक नये-नये पंथ खोज निकालने लगे। जब-जब जैनागम जैनत्व से अधिक पूज्य हो गये, दिगम्बर-श्वेतांबरियों के झगड़े बढ़ते गये। इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम मजहबों की बात है। गांधी-धर्म (यदि ऐसी कोई वस्तु विचार लोक में हो तो) को भी ज्यों-का-त्यों नकल उतारने की भावना से नहीं लेना चाहिए। उसमें जो श्रद्धा करते हैं या करना चाहते हैं पूरी तरह ठोक-पीटकर, क्यों, कैसे के साथ करें। असत्य या गांधीजी के मत का विकृत, अतिकृत अन्धानुकरण उनके प्रति श्रद्धा को भी हानि पहुँचायेगा। सच्ची श्रद्धा मौन और सजग होती है।

गांधी जी विचार-वाक्-स्वातंत्र्य के बड़े भारी हिमायती हैं। अवश्य उनके मतों से विरोध अथवा मतभेद शालीन भाषा में व्यक्त करना श्रद्धा या पाप नहीं है। मेरे कई मुसलमान मित्र हैं, वे लेखक भी हैं। मैं उर्दू लिपि नहीं जानता, सीखना चाहता हूँ—पर उर्दू ही क्यों, सिंहली और चीनी और रूसी भी सीखना चाहता हूँ। पर लिपि सीख लेने से मन से संस्कार कैसे मिट जायेंगे? भाई परमानन्द जी हिन्दू महासभावाले या कई आर्यसमाजी प्रचारक उर्दू बखूबी जानते हैं, पर उस कारण से वे मुस्लिमों के प्रति उदार कहाँ बने हैं? उससे

उल्टे उदाहरण मिलेंगे। अतः दो लिपि सीखने की बात सबके लिये संभव नहीं।

सवाल एक या दो लिपि, एक या दो नेता, एक या दो नीतियों का ही नहीं है—चुनाव एक समर्पित जीवन और एक अ-समर्पित जीवन के बीच में है। पर लिज़ा तुमने कहा था कि मैं कभी समर्पित हो ही नहीं सकता। मुझमें का अहं अति तीव्र है, अति कठोर और न घुलने वाला है।

नहीं—नहीं, ऐसा अस्फीत जीवन पापी का जीवन है। मैं उस राह से नहीं जाऊँगा।

आज से मैंने अपने जीवन के लिए अरविंद की ये पंक्तियाँ मोटो की तरह से गिरह में बाँध ली है।

"Know thyself next as the workers, know therefore thy body to be a knot in matters and thy mind to be a whirl in universal mind and thy life to be an eddy. Know last the master to be thyself, but to this self put no form and seek for it no definition of quality. Be one with that in thy being, commune with that in the consciousness."

प्रिय लिज़ा, आज इतना ही लिखता हूँ। ज्यों-ज्यों मैं मजदूरों के संपर्क में आता जाऊँगा—तुम्हे लिखता रहूँगा।

फादर डिक्सन को नमस्कार।

सप्रेम—
मनोहर

—:o:—

: ७ :

केशो जब मांगीराम को लेकर मिल में पहले दिन गया तो भगवान जाबर के दर्शन हुए।

भगवान जाबर घनी मूछों, ताँबे के रंग, और सुर्ख आँखों का गुंडे जैसा जान पड़ने वाला आदमी था। सब जानते थे कि वही "बदली" दे सकता है। हर नये मजदूर को कमाई का निश्चित अंश उसे देना ही पड़ता था।

वैसे नोकरी पाने के एक दिन पहले, शाम को वह लक्ष्मीनारायण मंदिर में गया था। वहाँ एक भट्टजी प्रवचन कर रहे थे, उपनिषद् सुना रहे थे।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षम्।
अभयं द्यावा-पृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात्।
उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु।
अभयं मित्राद् अभय अमित्रात्।
अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरो यः।
अभय नक्तम् अभय दिवा नः।
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

भट्ट जी कहते जा रहे थे--'धरती, आसमान और उससे भी परे नक्षत्रों की दुनिया हमें अभय बनाये। इस सफर में आगे बढ़े, पीछे रहें, ऊपर चढ़े या नीचे गिरे, सदा अभय हों। दोस्तों से, बे-पहचानों से, सबसे हम अभय रहे। 'जो हो चुका' उन बातों का ज्ञात, या गलती से होने वाली बातों का अज्ञात हमें भयभीत न करे। चाहे निवृत्ति की रात हो या प्रवृत्ति का दिन--कुछ भी हमें भयभीत न करे। हमारी सामूहिक इच्छा-शक्ति हमारी सहायता करे!'

सुनने को यह सब उपदेश मधुर थे। तीन हजार बरस से हम यही सुनते आ रहे हैं। उपनिषदों के ऋषियों से लगाकर विनोबा तक--पर क्या हमारा डरपोकपन किसी कदर कम हुआ है?

मसलन यह भगवान जाबर है। इसके अत्याचारों की लोमहर्षक कहानियाँ सारी मिलों में पीढ़ियों से चली आ रही हैं, पर आज तक 'सामूहिक इच्छा-शक्ति' ने यहाँ कोई काम नहीं किया है।

मिलते ही भगवान ने घुड़की दी--'पहले कभी मिल में काम किया है ?'

केशो ने कहा--'नहीं ।'

भगवान क्रूर हँसी हँसकर बोला--'तो डबल होगी हमारी फीस !'

मांगीराम ने हामी भरी--'वह सब हम दे देंगे ।'

भगवान ने कहा--'शराब तो नही पीता ?'

'नहीं'

'और गाँव में कर्जा कितना छोड़ आया है ?'

'कुछ नहीं ।'

'ऐसा न हो कि बाद मे यहाँ पुलिस पीछा करती हुई चली आवे । मैं यह सब झझट नहीं पसन्द करता ।'

'वह कुछ नहीं है ।'—दोनों ने आश्वासन दिया ।

'रहते कहाँ हो ?' अगला सवाल ।

'अभी तो महारानीपुरे मे एक चाल में जगह मिल गई है ।'

'ठीक है'—मूछों को यों ही बल देते हुए भगवान ने अपनी छोटी छड़ी घुमाई और आगे चलने लगा--'कल से आ जाना ।'

दूसरे दिन सबेरे भोंपू की सीटी बजी । बहुत जल्दी धुर-सबेरे नये अनुभव की अधीरता में केशो, मांगी लाल के साथ मिल के फाटक तक पहुँच गया । अन्दर किसी तरह प्रवेश मिला ।

अपने खाते तक पहुँचने में देर लगी । रास्ते मे कोयले से भरी छोटी-छोटी ट्रालियाँ, रात पाली के बच्चे अपने से कहीं अधिक बोझा उठाये हुए ले जा रहे थे । वैसे कागज में कानून थे । बच्चों में अमुक उम्र तक के लड़कों को मिहनत का काम न देने का आदेश था । पर बात यह थी कि कई तरह के ये आवारा छोकरे यहाँ-वहाँ अपराध करते और सब पापों का प्रक्षालन करने यहाँ पहुँच जाते । लेबर इन्सपेक्टर से बचने के लिये इनके नाम रजिस्टर में दर्ज नहीं कराये जाते । ज्यों ही इन्सपेक्टर के आने की भनक पड़ती इन्हें भगा दिया

जाता था और इन्सपेक्टर की 'मुट्ठी गरम' करके मामला निपटा दिया जाता था।

जो हालत बच्चों की थी, उससे भी बुरी हालत मजदूरिनों की थी। ज्यादातर बहुत गिचपिच साँचों पर काम करतीं—सालखाते में भी कुछ थीं, पर उनकी कोई जिन्दगी नहीं थी। यहाँ भी पुरुषों से से कम मजूरी उन्हें मिलती। अपमान की घुड़की और सब तरह की बुराइयाँ उन्हें घेरे रहतीं। उन पर जाबर की बुरी नजर थी ही, साथ-ही-साथ उन्हें काम पर लगाने वाला ठेकेदार अव्वल नंबर का शराबी और जुआरी था। उसकी अंटी में इनकी गाढ़ी कमाई का बहुत-सा पैसा चला जाता था। लच्छमी को उसके धनी ने छोड़ दिया था, पारबती दो पतियों को छोड़ चुकी थी। सोना के घर बच्चे थे, पति कमाता था, उसे भी कमाना पड़ रहा था। नरबदा का पति शराबी था और उसकी आय घर में आती ही नहीं थी। गीता का बाप बहुत बूढ़ा था—इसलिये जवानी में ही उसे नौकरी करनी पड़ती थी। इन सब औरतों की कमजोरियों और मजबूरियों से उनके नौकरी दिलानेवाले सुपरिचित थे और वे उससे पूरा फायदा उठाते थे।

मिल के अन्दर की दुनियाँ कुछ और ही दुनियाँ थी। वहाँ मशीन का एकछत्र साम्राज्य चलता था। साँचा वहाँ का सम्राट था।

एक भयानक बड़ा चक्का था—जिसके ऊपर एक बहुत बड़ा चमड़े का पट्टा बराबर बिजली से चलता रहता। उसी के सहारे अन्य छोटे पट्टे कई चक्के चलाते रहते।

और उन छोटे चक्कों से और छोटे चक्के चलते। इन चक्कों के सहारे सब खाते चलते—कपास के बीज निकाल कर साफ करने वाला जिनिंग खाता, उसे धुनने वाला वार्पिंग खाता, साल खाता, वीविंग खाता, तैयार कपड़े की तहें बनाकर गाँठें बनाने का खाता, रँगाई खाता वगैरह-वगैरह। और हर खाते में चीटियों की तरह से आदमी काम करते रहते। इन चीटियों को चीनी का दाना था हफ्ते या महीने के बाद मिलने वाली पगार।

जिस दिन केशो पहुँचा था पगार का दिन था और जब शाम को वह मिल से बाहर निकला, तो दूसरा ही नजारा दिखाई दिया।

चपड़कनातीं लोग खड़ थ। मिल के फाटक के बाहर पास में ही कलाली की दूकान थी। बहुत-सा मिलमें मिला रुपया उस कलाली में उँडेल दिया जाता, जैसे ठर्रा ज्यादा पीकर बाद में होने वाली कै हो। कुछ भट्टी, जिनकी आँखों में शर्म का पानी मर चुका है, औरतें भी फाटक के बाहर थीं। मिहनत के पैसे का यह सब उपयोग अजब था। लाटरी-सट्टे वाले भी बाहर पैसे उगाहने खड़े रहते थे। इतनी सब आँखों के पींजड़ों से कोई बचाव नहीं था। पगार इधर से आती, उधर चली जाती। मजदूर मानो सिक्कों की मैल को बहाने वाली नालियाँ थे।

दिन में जो आध घंटे की छुट्टी होती उस वक्त खाने के लिए मिल की ओर से चलाये जाने वाले होटल कोई नहीं थे। माताएँ अपने बच्चे लाकर बाहर एक पेड़ की डाल से कपड़ा टाँगकर उसमें रख जातीं—उनके लिए कोई 'क्रेश' भी नहीं थे। थियेटर व्यायाम-शालाएँ और लाइब्रेरियाँ तो बहुत बाद की चीजें हैं—उन दिनों ऐसी कोई सभ्यता-सूचक वस्तु उन मिलों के जंगल जैसी 'एरिया' के आसपास नहीं थीं।

पहले ही दिन केशो इस महा-सांचे की माया से आतंकित हो गया। उसकी तो जैसे बोलती बन्द हो गई, यह नया काम उसे कोई खास पसन्द नहीं आया। पर पसंद आना-न-आना गौण बात थी, मुख्य बात थी माह मिलने वाली निश्चित पगार के सिक्के!

'साँचा...आदमी...सिक्के'

वह सीधा अंकगणित था। दो बड़े यंत्रों के बीच में आदमी बहुत छोटी-सी क्षुद्र चीज थी। उसकी इच्छा, आकांक्षा के कोई माने नहीं थे—अब हम कृषक राजा जनक के जमाने के रामराज में थोड़े ही रहते हैं! इस्पात-युग में रहते हैं। यहाँ आदमी का हृदय-सम्राट वाल्मीकि या तानसेन नहीं—आदमी के हृदय पर एक-छत्र साम्राज्य साँचे का है।

और इसके बाद भी कवि कहते हैं कि इस घटना की छाँह भी कहीं कोमल भावनाओं को छू न पाये, नहीं तो वे झुलस जायेगी। किस स्वप्न-लोक में रहते हैं ये कवि और लेखक !

मांगीराम बाहर निकला तो बोला—'केशो ! क्या इरादा है —कुछ जी हरा कर लिया जाय।'

केशो बोला—'तुम चाहे जहाँ जाओ ! यहाँ तो सिर मे दर्द हो रहा है। मैं तो घर जाऊँगा।'

जल्दी-जल्दी पैर उठाकर केशो अपनी चाल की ओर जाने लगा। उसे बार-बार अपने घर की याद आ रही थी। उसे लग रहा था कि उसने यहाँ आकर महान् मूर्खता की। पर अब लौटना कहाँ था ! सभ्यता के चरण ऐसे है कि वे सदा आगे ही पड़ते हैं—वे लौट नही सकते।'

रास्ते में जा रहा था कि एक भलामानुस लगनेवाला पढ़ा-लिखा बाबू—छोटी-सी चड्डी और काला सा चश्मा पहने, उसे रोककर उसके हाथ में एक 'फारम' थमाकर बोला—"तुम्हें मेम्बर बनना चाहिए।'

केशो पढ़ा-लिखा नहीं था। बोला—'काहे का मेम्बर, ये कागज़ क्या है ? मुझे मत दो बाबा।'

अब तो दो चार नौजवान उसे घेरकर जमा हो गए और उनमें से एक ने कहा—'दो, चार आने।'

किसी तरह बला टालने के इरादे से उसने चार आने अंटी से निकाले और सोचा—'चलो घर चलें।'

सब बाबू मिलकर उसे लेक्चर पिलाने लगे—'तुम्हारा नाम क्या है ?'

'केशोलाल ?'

'रहनेवाले कहाँ के है ?'

'शुजालपुर के।'

'आज से तुम हमारी लाल झंडेवाली यूनियन के मेम्बर बने। तुम जानते हो—लाल झंडा ही दुनियाँ के मजदूरों को मुक्ति

देनेवाला है। बाकी सब जितनी मजदूरों की जमाते हैं; देशद्रोही हैं, गद्दार हैं, पूंजीपतियों से मिली हुई हैं।

केशो हक्का-बक्का खड़ा था। उसने कहा—'मेरी समझ में यह सब कुछ नहीं आता।'

आखिर वे नौजवान, जिनमें एक लड़की भी थी—उसे घेरकर एक दुमंजिले की छोटी-सी कोठरी में ले गए। यहाँ कोई नेता व्याख्यान दे रहे थे। केशो चुपचाप बैठा रहा। आज तक उसने सत्तनारायण की कथा सुनी थी—या प्रवचन सुने थे। पर इतना सुन्दर भाषण पहली बार सुनने में आया। इसमें बोलनेवाले बार-बार अंग्रेजी में भी बोलते जाते थे।

सुन्दर रेशमी पीली कमीज पहने, घुंघरवाले बालों को झटका देते हुए, दाढ़ी-मूँछ सफाचट बाबू, मुट्ठी तान-तानकर बोलते जा रहे थे—'दोस्तो! मैं तुमसे फिर कहना चाहता हूँ कि कांग्रेस तुम्हारे साथ धोखा दे रही है, जो आजादी की लड़ाई वह लड़ रही है, वह नाटक है, सरासर धोखा है। वह साम्राज्यवादियों और कैपिटलिस्टों की एजेण्ट है। (तालियाँ)।

वक्ता ने और आवेश में आकर भद्दी हँसी हँसकर कहा—'काम-रेडो, इन्क़लाब को अब दूर मत समझो। वह अगली गली में है, जल्दी ही इधर भी आयेगा। और जब वह आयेगा, तो यह समाज का ढाँचा चर्रा कर गिर पड़ेगा। यह नीति की मान्यताएँ और मर्यादाएँ चूर-चूर हो जायेंगी। यह जो कुछ आप पवित्र, सुन्दर और धार्मिक समझते हैं, यों जल जाएगा जैसे आग की चिनगारी से सूखे पत्ते! (तालियाँ)।'

फिर नेता ने बड़ी देर तक यह समझाया कि मजदूरों के मामले में कानपुर और अहमदाबाद में क्या हो रहा है, दंगों को उकसाने के पीछे किसका हाथ है। 'मजदूर एकता जिन्दाबाद!' के नारों से सभा समाप्त हुई।

केशो भी बुद्धू की तरह अपने जूते खोजता-खोजता वापिस चला। चवन्नी के बदले उसका वक्त अच्छा बीता। उसे महसूस हुआ कि वह भी कुछ है, सिर्फ साँचा ही नहीं है। पर जब वे मजदूर

नेता यह कह रहे थे कि मशीन, सभ्यता का जवाब मशीनी-संगठन है—तब उसके पल्ले बहुत कम पड़ा। आदमी कितना ही चाहने पर भी यंत्र कैसे बन सकता है ? कैसे ? कैसे...

—:o:—

: ८ :

केशो लाल झंडेवालों के दफ्तर में बार-बार जाने लगा। मागी ने मना किया, कि भगवान् जाबर उसे इस बात पर नौकरी से निकाल देंगे, तो वह गुप्त रूप से वहाँ जाने लगा। जैसे कलाल के यहाँ चुपके से जाकर पीने में नशेलची को आनन्द आता है, वैसा ही कुछ आनन्द केशो को आ रहा था। एक दिन मिल में एक दुर्घटना हुई। चलते हुए साँचे में नराण के कुर्ते की बाँह आ गई और जब तक कोई बचाने के लिए जाय, एक झपट्टे में उसकी बाँह कंधों से अलग होकर टूट गिरी। केशो ने अपने साँचे के पास से खून में लथपथ नराण को बेहोश पड़ा हुआ देखा। कई स्वार्थी ऐसे थे कि अपना साँचा छोड़ कर नराण के पास आने को राजी नहीं थे। उन्हें लगता था—'पता नहीं सहानुभूति दिखाने जाओ तो जाबर कहीं काम से न निकाल दे ?' मिल में एक शोर मच गया।

साल खातेवाले काम से बाहर निकल आये।

देखते-देखते मिल के फाटक के बाहर कामरेड बाबूराय ने एक सभा कर ली। बड़े गर्मागर्म भाषण हुए। पर यह सब जोश उस मौके के लिये तो तपते लोहे को पीटने की तरह था, पर बहुत दिनों बाद भी उसका नतीजा कुछ नहीं निकला।

मिलवाले बोले—'लाल झंडेवाली यूनियन हमारे रियासती कानून के हिसाब से 'रेकगनाइज्ड नहीं है।'

केशो ने पूछा—'क्या मतलब हुआ ?'

'—इसका मतलब यह है कि हम तुम्हें पहचानते नहीं, तुम्हें हम अँगूठा दिखाते हैं। जाओ अपने रास्ते !'

इधर मनोहर ने भी अपना काम शुरू किया था। ज़ख्मी नराण का केस इस तिरंगे झंडेवाले मजदूर-संघ में भी लिखाया गया। मनोहर सारे मामले को कानूनी ढंग से ऊपर ले गया। घटना का फायदा उठाकर सिर्फ जोशो-खरोश और उबाल पैदा करने की कोशिश उसने नहीं की।

ऊपर तक शिकायत पहुँचाई गई।

निर्णय मिला कि नराण को 'कम्पेन्सेशन' मिले। मोआवजे में कई सौ रुपये इलाज के लिये और ऊपर से माहवार रकम बँधी हुई मिली। मनोहर के संघ की यह पहली विजय थी।

मनोहर का मजदूर संघ और भी एक कारण से इंदौर में जड़ें जमा रहा था, वह भारतीयता को लेकर चलता था, वह मजदूरों के धार्मिक व्रत-त्यौहारों का ख्याल रखता। वे गणेशोत्सव भी मनाते और रामलीला भी।

वे मजदूरों की भाषा में बोलते—सीधी-सादी भाषा और ऐसा काम करते, जो उन्हें तुरत लाभ पहुँचाता।

लाल झंडेवाले बहुत-सा ऐसा साहित्य बाँटते जो मजदूरों की समझ के बाहर था—मार्क्स और एंगेल्स की पुस्तकें, सोवियत रूस को क्रान्ति का इतिहास, द्वंद्वात्मक भौतिकतावाद, इत्यादि। मजदूरों को खास तौर से केशो जैसे गाँव से आये हुए मजदूरों को सबसे अखरती लाल झंडेवालों की रहन-सहन की मुक्त शैली। इनके कार्यकर्ताओं में खान-पान का निषेध नहीं था। इससे मुसलमान और अछूत वगैरह इनके साथ बहुत थे—पर इनमें छोकड़े ज्यादा थे—लड़के-लड़कियाँ भी साथ रहती थीं। और सभी बुरे हों सो बात नहीं थी। पर जैसे यह किस्सा सुनने में आया था कि कामरेड सामंत जो पहले राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के कट्टर गुप्त कार्यकर्ता थे, एक जगह एक श्रीमती खेड़कर के घर में ट्यूशन करने जाते थे—धीरे-धीरे प्रेम यहाँ तक बढ़ा कि श्रीमती खेड़कर अपने बच्चों को और गरीब क्लर्क पति को छोड़ कर श्री सामंत के साथ भाग गईं और लाल झंडेवाले दफ्तर में शरण ली। यह यहाँ नहीं सुझाया जा रहा है कि लाल झंडेवालों का लड़कियों को फुसलाने या भगाने

का ऐसा कोई सोशल फ्रंट या प्रोग्राम था। पर यह सच है कि कामरेड सामंत का घोर मत-परिवर्तन हो गया। वे कट्टर राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघी से कट्टर कम्युनिस्ट बन गये। एक मताग्रह से वे दूसरे मताग्रह तक पहुँच गये—कट्टरता दोनों तरफ थी, जो उनकी अव्यवस्थित ज़िन्दगी में मानसिक सांत्वना का बहुत बड़ा काम करती थी।

केशो ने यह भी सुना कि कामरेड दत्तात्रेय को इसलिये पार्टी ने निकाल दिया कि वह कृष्ण-मूर्ति के दर्शन को मानता था, उनकी तस्वीर घर में रखकर पूजता था।

सच तो यह है कि उस प्रदेश का और उस काल का सारा मजदूर-आन्दोलन, सारे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का मनोलोक वहाँ की सामंती परिस्थितियों से प्रभावित था।

जमींदार और छोटे व्यापारी भी कांग्रेस को नहीं चाहते थे। वे सब प्रच्छन्न रूप से लाल झंडेवालों की मदद करते थे। उनके लिए पैसा कहाँ से आता है, यह जानना बहुत अर्थपूर्ण नहीं था। पैसा जहाँ से भी आए स्वीकार्य था। इन्कलाब की आग में यह स्क्रैप, लोहा, ताँबा, राँगा, टिन, शीशा गल जायगा ऐसा वे मानते थे।

पर वह आग कहाँ थी? बहुत दूर पर वह आग थी और यहाँ उसकी कल्पना को ये ताप रहे थे। तालाब में ठिठुरते ब्राह्मण को महल की रोशनी आग पहुँचा रही होगी यह सुनकर बीरबल ने पेड़ के सहारे हँड़िया टाँगी और नीचे तिनकों की आग जलाकर खिचड़ी पकाने लगे।

पर क्या दुनिया के इतिहास में स्थान की दूरी इतनी बड़ी दूरी होती है? क्या कभी क्रान्तियाँ पर-प्रत्यनेय, पर–प्रकाशित होती हैं? क्या वे स्वयम्भू नहीं होनी चाहिए?

लाल झंडेवाले दफ्तर के अन्दर की बातें ही निराली थीं। एक दिन वहाँ कवि मुरारी आ पहुँचे। मुरारी और नागरचन्दजी का स्वभाव ऐसा था कि जहाँ जाओ वहाँ लोकप्रियता प्राप्त करना उनका प्रधान उद्देश्य था। इसलिए कवि मुरारी की ख्याति थी कि जहाँ जायें, वहीं के हो जावे थे। जब महारानी की वर्ष-गाँठ आयी

तो कवि मुरारी ने कसीदा लिख दिया, अब मजदूरों की बारी आई, तो वहाँ भी 'लेनिन'

हैया—हो !

भैया—हो !

लेनिन ही तो एक हमारा, दुनिया का पालन हारा।

दुनियाँ में गर ध्रुव का तारा, तो वह केवल लाल सितारा।

लाल सितारा...।

मुरारी जी का चेला 'लाल सितारा' शब्द की पाँच बार आवृत्ति करता था।

और इसी तरह मुरारी जी जब ग्राम में पहुँचते तो ग्राम्य-गीत गाते।

तो मुरारीजी जब वहाँ पधारे तो लाल झंडेवालों के दल में एक मिस कामिनी थीं जो शायद मैट्रिक फेल थीं पर 'साहित्य पर मार्क्सवादी विचार धारा' पर वह निबन्ध लिख लेती थीं और जनता का साहित्य के प्रति क्या दृष्टि-कोण है, इस बात का पूरा अता-पता उन्हें था। नतीजा यह था कि कवि मुरारी के स्वागत-सत्कार के लिए कामरेड कामिनी की नियुक्ति हुई।

स्वागत-सत्कार जो होना था या नहीं होना था, इस बहाने वह शरण के पास पहुँचीं। कहा कि 'यह साहित्य का सवाल है, इसमें राजनीतिक मत-भेद कहाँ आते हैं? यह तो मानवतावादी संयुक्त मोर्चा है।' शरण सीधे आदमी थे—मान गये। सभा जैसी होनी थी हुई, मुरारी को चोखना था, चीख गये। प्रकाशक सेठ बाँकेलाल ने जब उनकी कविता का उग्र रूप देखा तो उनसे बात करनी छोड़ दी। मुरारी ने सोचा—यह तो बुरा हुआ। तब उसने अपनी कविता में एक नया नुसखा निकाला, जिसे उसने गाँधी-वादी समाजवाद कहा। एक ही पत्थर से दो पक्षी मारने का अच्छा तरीका था।

इस बीच में मुरारी जी ने 'कामिनी के प्रति'—कुछ प्रेम-गीत भी लिख डाले, पर कामिनी नाम बहुत खुला होता, अतः उसे 'मानिनी के प्रति' कर दिया। परन्तु कामिनी जैसी चंचल-हृदया

स्त्री क्या चाहती है—यह कहना कठिन है। स्त्रियों को कौन-सा पुरुष कब पसन्द आ जावेगा यह अनुमान लगाना विधाता की भी कल्पना के बाहर की बात है। सो कामिनी और शरण का परस्परा-कर्षण कैसे, कब, क्यों, कहाँ शुरू हुआ—यह एक रहस्य है, परन्तु कामिनी ने धीरे-धीरे शरण के हृदय में कहीं स्थान अवश्य पा लिया। यहाँ तक कि शरण अपनी सैद्धान्तिक स्थिति से भी शायद विचलित होने लगा। उसके मन में एक विराट्-उद्वेलन आरम्भ हुआ।

"हम सारी समाज-व्यवस्था में हृदय परिवर्तन लाने की बात करते हैं, पर जब एक स्त्री के हृदय को जीत नहीं सकते—तो और कठोर हृदयों को जीत पाना तो बहुत बड़ी मुश्किल है।" इस तरह धीरे-धीरे शरण अन्तर्मुखी और आत्मस्थ होने लगे। दार्शनिक मनोहर से उनकी इस विषय में बातें शुरू हुई।

मनोहर ने कहा—'स्त्री का प्रेम! एक मूर्खता है। जीवन में ऐसे कई बुद्बुद् उठते हैं और नष्ट हो जाते हैं।'

शरण ने कहा—'क्या कहते हो? जो सत्य की तरह ज्वलंत है, उसे ठुकराते हो? मुझे लगता है कि यही प्रेम सत्य है और तो सब प्रवंचना है।'

मनोहर ने धीमे से सुझाया—'मनोविज्ञान के पास इसका उत्तर है। इतने दिन जो नारी से भागते रहे हो, उसका बदला यह नारीत्व या प्रकृति तुमसे ले रही है।'

प्रश्न अनिर्णीत रहा।

—:o:—

: ६ :

केशो मिल में काम करते-करते ऊब गया था। कभी इस यूनियन वाला उसे बुलाता था, कभी उस संघ वाले को चंदा देना पड़ता था, पर हालत ज्यों-की-त्यों खस्ता थी। नेता लोग आते, व्याख्यान देकर चले जाते। फूल-माला, पैम्पलेट, शब्द, शब्द जो बाढ़

की तरह से आते और निकल जाते। मजदूरों की दुनियाँ उसी तरह बिलबिलाती रहती, ताड़ी उसी तरह बिकती रहती, खान उसी तरह डंडा पीटता रहता। मजदूर औरतों की अस्मतें पान की पीक की तरह खुले आम सड़कों पर कलंकित होतीं; मजदूरों के बच्चे उसी तरह बिना दवा-दारू के मर जाते।

केशो इन सबसे ऊब गया था।

मांगीराम की बात दूसरी थी। वह मौला जीव ठहरा—उसकी एक रात फ्लशवालों के साथ कटती; तो दूसरी अड्डा—बाजार में। आज थेटर देख रहा है तो कल 'हंटरवाली', 'घोड़ा बेटा पंजाब का', धड़-धड़-धड़-धड़ाम-स्टन्ट पिक्चर देख रहा है। उसका विवेक मर चुका था। जिन्दगी के साँचे से सुख का रस बराबर निकलता जाता था—गन्ने के बदले हड्डियाँ पेरी जा रही थीं, तो क्या ?

केशो रात को आसमान में तारे देखता तो घरवाली की याद आती, बच्चे के बारे में सोचता, भाई-बन्दों की चिन्ता करता। सोचता, इस वक्त गाँव में होता तो आनन्द से नीम के नीचे खाट बिछाए पड़ा रहता। दूर से कोई गोठे की गाय रँभाती या बैलगाड़ी के बैलों के गले की घंटी बजती, कोई शोर-गुल नही होता। और यहाँ चाल है—गटर की बदबू, मच्छड़ों का भिन्नाना और अड़ोस-पड़ोस की बक-झक में शाम निकल जाती है, और रात को तारे भी चाँदी के सिक्कों की तरह मुँह चिढ़ाते इतनी दूर जाकर बैठे रहते है। ये तारे है या आशा का उड़ा हुआ झाग है, जो वहाँ दूर जाकर जम गया है ?

केशो ने सोचा, 'इस कार्तिक पूनम पर उज्जैन के सिपरा जी के घाट चला जाय और मांग्या न जाये तो न जाय' वह अकेले जाने की सोच कर उज्जैन गया।

मगरमोहे की उसी गली में जाकर गौरी भाभी का पता लगाया। वह किसी पंडे को रखेल बन कर भाग गई थी, ऐसा पता चला।

परसोतम की भी कोई जिन्दगी थी ? मिल में काया पिस चुकी थी, अफीम के सहारे किसी तरह चल रही थी गाड़ी।

परसोत्तम से पता चला कि अफीम की काश्त मालवे में एक बड़ी भारी जरायमपेशा जमात के पेट-पालन का व्यवसाय है। मंदसौर की अफीम चीन के मार्ग से जाती हुई सैनफ्रांसिस्को में पकड़ी गई थी। चुरा कर बेचने वालों के अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह हैं। और उस दिन हवालात पर जो वारदात हुई, वह तो बड़ी सनसनीखेज थी। एक आदमी की मोटर की सीट में लोहे की दो परतों के बीच मनों अफीम पकड़ी गई थी।

वाह रे सामंती मालवा! कंजरों और सांसियों का मालवा! डाकुओं और सेंध डालने वालों का मालवा! क्या धर्मग्रन्थों में इसी को तीरथ मान कर तारीफ की गयी है? क्या इसी को लेकर कालिदास मेघदूत में पागल हो उठे थे? पर केशो कालिदास को नहीं जानता था—यह एक तरह से उसका सद्भाग्य था। उतनी ही निराशा उसे कम नहीं थी। केशो और परसोतम कार्तिक के मेले में गये।

कोई साहब वहाँ एक बड़ा खेमा लगाये 'प्रार्थना' पर भाषण दे रहे थे। कालेज के कोई अध्यापक थे। बतला रहे थे कि—

'क्या करेंगे शेखजी लड्डू का फोटू चाट कर?' इसी तरह से जब दुनियां में प्रत्यक्ष कोई चीज नहीं मिलती—तब वह भगवान् से चाही जाती है। भगवान् और कुछ नहीं अपने मन का भरम है, एक धोखे की टट्टी...।' तालियाँ बज उठीं, पर केशो की समझ में कुछ नहीं आया। अगर भगवान् एक सपना है तो जो उसका जाबर भगवान् क्रूर, महानिर्दय, मूँछें मरोड़नेवाला, उसे नित्य तंग करने वाला, रिश्वतें खाने वाला बैठा है, वह कौन है?

वही सही है! लेक्चर देने वाले तो यों ही झूठी बातें बकते हैं।

परसोतम ने कहा—'इस बार मेले में कई नई चीजें आई हैं।'

केशो—'नई चीजें क्या?'

परसोत्तम बोला—'गाँववालों को भरमाने के लिए कई किताबें, कई तरह की बनी चीजें और कई ऐसी नई बातें हैं।'

केशो ने कहा—'अच्छा चलो, वह भी देख लें।'

पर वे सब चार्ट और प्रदर्शन के लिये रखी गई चीजें देखकर केशो 'कन्विन्स' नहीं हुआ, उसमें आश्वस्त-भाव नहीं जगा। उसे लगा कि 'शहर वाले बाबू लोग गाँववालों का नाम आगे करके किसी तरह से उन्हें लूटना चाहते हैं, इसके पीछे सचमुच में गाँववालों की माली हालत सुधारने का इरादा नहीं है। यह सब एक विराट धोखा है।'

कारण यह था कि इन खेमों में जो प्रचारक थे, वे सब अंग्रेजी पोशाक में, अंग्रेजी बोलने वाले बाबू थे। उनके मन में किसानों के प्रति कोई आत्मीयता नहीं थी, तो किसान भी उनके प्रति कैसे आत्मीयता अनुभव करते ?

सिप्रा के किनारे रात को कई बैलगाड़ियाँ रेत में रुकी पड़ी थीं। कहीं भजन गाये जा रहे थे, कहीं लोक-गीत। दीपकों की कई कतारें पानी में डूब-उतरा रही थीं। वातावरण में एक उल्लास और आनन्द था, प्रकृति जैसे वहाँ मुखर हो उठी थी। आसमान की निरभ्रता आकर किशोरियों की किलकारियों में समा गई थीं। पलाश के पुष्पों की कोमलता जैसे उनके चेहरों पर खिली थी—पर अभी तो चारों ओर पतझर था। पीले पत्ते थे, चिता-भस्म थी, टूटे घाट और खंडित पैंड़ियाँ थीं...।

केशो उनमें खो गया। उसे इन्दौर की मिल, साँचे-खाते की हड़बड़ी और चिरआतंक में पिसती जिन्दगी एक बहुत बड़े व्यंग की तरह से जान पड़ी। 'इतने पास होकर भी गाँव और शहर कितने दूर थे ? शहर जैसे गाँव पर अपने-आप को पोस रहा था। गाँव में शहर की बुराइयाँ और खराबियाँ बराबर घुसती जा रही थीं। सारा प्रवाह शहर की ओर था। पर शहर में जैसे सड़े पानी का ठहराव था। उसमें मुक्त सागर जैसा कल्लोल कहीं नहीं था। वह सड़ा हुआ पोखर—शहर !'

गाँव के झरने की उसे याद हो आई और वह गुनगुनाने लगा।

परसोत्तम ने घर की याद दिलाई, तब वे बड़ी रात बीते घर लौटे।

—:o:—

: १० :

शरण को कविता लिखने की सूझी। कुमारी कामिनी के साथ उसका प्रेम-भंग शायद कारण हो। पर उसने जो कुछ लिखा वह मित्र मनोहर को दिखाया। बीच-बीच में मनोहर अपनी विचित्र संदेहशील अभावुकता से अपनी राय व्यक्त करता गया, जो उसे पसन्द नहीं आया। शरण बोला—'पहले पूरी चीज़ सुन लो, बाद में अपनी राय देना...'

मनोहर ने हठ किया—'बीच-बीच में बात करने से आपकी कविता का महत्त्व कम हो जाता है क्या?'

शरण ने उत्तेजित होकर कहा—'यह बात नहीं है। फूल को सूँघने के बजाय तुम उसकी पंखुड़ी-पंखुड़ी तोल डालते हो। यह कहाँ की रसज्ञता है? यह कहाँ की बुद्धिमानी है?'

मनोहर ने कहा—'तुम कवि लोग अपनी आलोचना सुनना जरा भी पसन्द नहीं करते—यह क्या बात है? क्यों इतने संवेदन-क्षम हैं आप?'

शरण ने कहा—'हम देखते हैं आलोचना के पीछे स्पिरिट कैसी है। अगर सचमुच में तुम्हारी यह इच्छा हो कि हम सुधरे, तो तुम्हारी बात का कोई मूल्य है। वर्ना क्या रखा है, दोष तो हर एक में ही देखे जा सकते हैं?'

मनोहर—'तो क्या कवि मुरारी की तरह मैं भी गर्दन हिलाकर दाँत निपोर कर—'हें-जी, हें-जी महाराज, हम तो कविता में कछू समझत नहीं, कहूँ—?'

शरण—'यह नकली विनय दिखाने की बात नहीं है, पहले सुनो!'

मनोहर—'अच्छा, तो सुनाओ।'

शरण बोला—'सुनो, कविता का नाम है—'तुषार'—जैसे तुषार के कण-कण अलग होते हैं—वैसे ही इसमें कई भाव-कण संजोये हुए हैं। सुनो, और उसने एक स्वरचित कविता सुनाई।

—:०:—

पर मनोहर से न रहा गया। उसने कहा—'यह रहस्यवादी लापन है। पीछे तो वही अतृप्त वासना है ?'

शरण चुप रहा।

मनोहर ने कहा—'शायद तुम इस बात पर बोलना नही चाहते ? ारी बात गिरह बाँध लो शरण, यह भावुकता अधिक दिनों तक साथ नहीं ले जा सकती ! यह तो निरा इन्द्रजाल है, ना है।'

शरण ने कहा—'यह बुजुर्गी आपने मजदूर-संघ में काम करते- सीखी है क्या ?'

मनोहर ने कहा—'देखो शरण, तुम्हारे लिए आत्मा का झीनापन ह कई सवाल हैं, और मेरे लिए यह जरूरी है कि आज मैं हेड से मिलने जाऊँ और पता चलाऊँ कि जो महामारी यहाँ पास हरों तक चली आई है वह कैसे रोकी जा सकती है। है जान ने का कोई नुसखा तुम्हारे पास ?'

शरण उदासी से भरा मुस्करा दिया। मानो सप्रश्न भौहों से रहा हो—'कविता क्या प्राणों का संजीवन नहीं है ?'

: ११ :

लिज़ा और फादर डिक्सन किसी काम से इन्दौर आये। मनोहर से मिलने चले आये। उन्होंने मजदूर बस्तियाँ मनोहर को रात्रिशाला देखी। और भी बहुत से कल्याण- देखे। जब शाम को सब लोग खाने पर बैठे तो बहस गयी, जिसमें कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी खुद-ब-खुद आ

मनोहर ने कहा—'आप ईसाइयों के लिए तो अच्छा है कि दुनियाँ की खराबी और बुराई का सारा दोषारोपण अपने प्रथम पाप पर डाल दिया। आदम-हव्वा बुरे थे—इसलिए आज भी हम उसी गलती को भुगतते जा रहे हैं।'

लिज़ा ने बात काटकर कहा—'इसमें ईसाई या अईसाई की क्या बात है? मनुष्य में पाप के प्रति एक विलक्षण आकर्षण अवश्य है।'

मनोहर ने कहा—'कहिए देवी जी, आपने भी कोई पाप किया है?'

फादर डिक्सन ने कहा—'ऐसा कौन इन्सान है जिसने पाप न किया हो? पर सवाल यहाँ पाप क्यों और क्या का उतना नहीं, जितना उससे मुक्ति का है। अब ये तुम्हारे बड़े-बड़े सेठ हैं। पता नहीं कैसे कहाँ से पैसा कमाते हैं और धर्मशाले बनाकर संतोष कर लेते हैं कि वे पाप से मुक्ति पा गये। क्या यह इतना सरल है? दान क्या ऐसे सम्भव है?'

मनोहर बोला—'दान तो वह चीज देना कहलाती है, जिस पर ममता हो, स्वत्व हो। किसी की कमाई, पुश्तैनी जमीन तीसरे को दे दी—इसमें देने वाले का क्या घटा?'

लिज़ा ने कहा—'हर दान पवित्र और श्रेष्ठ है—क्योंकि उसके पीछे एक भावना है। वह हड़पने के और सब कुछ अपनी मुट्ठी में भींच लेने के स्वार्थ से भिन्न है। इसलिए उसकी ओर श्रद्धा से देखो...।'

मनोहर ने कहा—'नहीं, मेरा ऐसे झूठे दान पर विश्वास नहीं, जिससे दंभ पोषित होता हो। देश में इतने भिखमंगे इसीलिए हैं।'

फादर डिक्सन ने दूसरी बात छेड़ी—'परन्तु आत्मदान का तो तुम महत्व मानोगे! जिन लोगों ने कोढ़ियों की सेवा में सारा जीवन बिता दिया उन्हें तुम क्या कहोगे?'

लिज़ा की आँखों में आँसू आ गए—'और तब असीमी के संत फ्रांसिस ने कहा कि मित्र अग्नि! आओ! तुम्हारा स्वागत करने के लिए यह हृदय खुला है, इसे जला दो। मित्र अग्नि—आओ! यह

आँखों की रोशनी तुम बुझा दो ! क्योंकि आज की आग के ये दाग आगे आनेवाले कितने लाखों आँसुओं को पोंछनेवाले बनेंगे।'...

वातावरण में जैसे एक पवित्र सघनता पैदा हो गई और बड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

जब सब खा-पी चुके तो एक विद्यार्थी मनोहर से मिलने आया। उन लोगों ने एक नाटक-मंडली बनाई थी और वे चाहते थे कि कोई हास्य-व्यंग्य से भरा, आधुनिक युवकों के निकम्मेपन पर व्यंग करने वाला नया नाटक यदि मनोहर ने लिखा हो तो वह दे दे। वे खेलना चाहते हैं।

मनोहर ने सोचा और कहा—'अगर शकुन्तला नये ढंग से फिर से लिखी जाय तो कैसी रहेगी ?'

विद्यार्थी बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'विषय जो भी लीजिए, मनोरंजक होना चाहिए।'

मनोहर ने हामी भरी कि पन्द्रह दिन बाद उसकी पाण्डुलिपि उन्हें दे देगा और विद्यार्थी चले गये।

नाटक के बारे म मनोहर के दूसरे विचार थे। जो खेला न जा सके, वह कैसा नाटक ? असल में वह नाटक न होकर एक पाठ्य-ग्रन्थ बन गया—वैसा ही जैसा कि ग्रंथालयों में सैकड़ों ग्रंथ हैं।

और जो खेला जाय उसमें जिन्दगी की झलक भी जरूरी है ! उसके बिना वह कागज के फूलों की तरह निर्जीव और निर्गंध होकर रह जायगा।

जब डिक्सन और लिज़ा जाने लगे तो मनोहर ने उन्हें क्रिसमस की छुट्टियों में इधर आने के लिये दावत दी। तब तक यह नाटक भी शायद खेल लिया जाय।

फादर डिक्सन ने जाते-जाते पूछा—'मनोहर, तुम दर्शन के विद्यार्थी रहे हो ! तुम्हारा मन इस काम में लगता है ? सच-सच कहो ?'

मनोहर ने कहा—'पहले नहीं लगता था, अब तो कुछ लगने लगा है।'

डिक्सन—'यह आदत की तरह अच्छा लगना काफी नहीं है मनोहर, किसी भी सफल काम के पीछे आत्म-दान जरूरी है। वह आत्मीयता से आता है...'

मनोहर—'मैं अभी इसमें वह नहीं अनुभव करता।'

लिज़ा—'तुमने जीवन भर किसी भी 'Cause' के लिये कुछ भी करना सीखा है?'

मनोहर...'काज़ के लिये तो नहीं—पर हाँ, उसे करने वाले व्यक्ति के लिये मैं कुछ भी कर सकता हूँ।'

लिज़ा—'पर व्यक्ति की भी तुम्हें परख है? शरण और कामिनी की बात तुम्हीं ने तो सुनाई है। कविता लिखने से प्रेम की पूर्ति नही होती।'

फादर डिक्सन बोले—'महनीय प्रेम त्याग चाहता है, वहाँ प्रत्याशा व्यर्थ है।'

मनोहर ने गर्दन झुका ली। जैसे वह मन-ही-मन कहता हो कि—'नही-नही! ऐसा प्रेम उसने कहीं अनुभव नहीं किया है।'

औपचारिक नमस्कारादि के बाद मनोहर ने लिज़ा और उसके पिता को विदा दी।

अपने अध्ययन-कक्ष में आकर वह विचार में डूब गया। यह जो महनीय प्रेम की बात हम अब तक अपने मन से चिपटाये हुये हैं—क्या यह केवल एक मधुर किस्सा नही है? सिर्फ एक परी-कथा! यह जो बड़े-बड़े ऐतिहासिक और जनगाथाओं के प्रेमिक हुए हैं, ये दुष्यन्त-शकुन्तला, हीर-रांझा, लैजा-मजनू, शीरी-फरहाद, और सोहणी-महीवाल—क्या ये सब हमारे मनगढ़न्त किस्से नहीं हैं? आज साँचे में बँधी जिन्दगी में क्या वैसा प्रेम सम्भव है? यंत्र-युग में आकर क्या प्रेम की परिभाषा बदल नहीं गई है?

या वही स्थायी, शाश्वत, चिरंतन मन के बन्धन बाकी है? और नित्य के, सहसा-परिवर्तित, बुद्बुद् जैसे भंगुर और पारे जैसे चंचल जीवन के अदलते-बदलते मानव-संबंधों पर उन्हीं का निरंतर संघर्ष, इस हमारी खाम-खयाली से उन्ही की टकराहट होती रहती है।

मसलन यह मेरी संस्था है और मैं हूँ। मैंने एक बाण्ड भरा है, आजीवन तीस रुपये पर सेवा करूँगा। कल न मानूँ तो क्या होगा ?

बंडूराम जी कहेंगे—'मनोहर कम्यूनिस्ट हो गया !' श्रीमान् जी गीता का शब्द काम में लायेंगे—'मनोहर व्यामोह में फँस गया !' और वे मनोहर में अच्छाई की सम्भावनाएँ देखना खो देंगे। मनोहर उन सब की नजर में गिर जायगा, शरण की भी। उसके बदले उन्हें उनकी आज्ञा मानने वाला बुद्धू, उससे कई गुना कम गुणी, हाँ-में-हाँ मिलाने वाला खुशामदी 'अ' पसन्द होगा ?

पर वही मनोहर यदि कल फिर किसी देश के महान् नेता के निकटतर पहुँचा; उसके आशीर्वाद से विवाह कर के बड़ा या बड़ी जगह पर पहुँचा—तो यही बंडूराम जी, श्रीमान् जी आदि और उनके मित्र शरण तक उसमें अच्छाई खोजने लगेंगे।

दुनियाँ की तराजू के पलड़े कितने धोखा देनेवाले हैं ? पर हम उसी तराजू को धरम-काँटा माने चल रहे हैं।

अन्तर के विवेक को एक आँख फूट चुकी है और हम दुनियाँ को अन्धता से दृष्टि-लाभ की ओर ले जाना चाहते हैं। कैसी बिडम्बना है !

यही सोचते-सोचते पता नहीं कब मनोहर सो गया।

समय आने पर उसने दुष्यन्त-शकुन्तला का आधुनिक संस्करण लिख लिया। जो आधुनिकता के साँचे में ढला हुआ एक व्यंग था। उसका कुछ अंश निम्न था।

उद्घोषक—'हम और आप शेखचिल्ली हैं। हम सब वही होना चाहते हैं, जो हम नहीं हैं। प्रेम और सोमा कालिज में पढ़ने वाले एक आधुनिक युवक और युवती एक ऐसे काल्पनिक उद्यान में पहुँच जाते हैं जहाँ जिस काल में आप जाना चाहें, जा सकते हैं। सो वे पहले वैदिक काल में गये और पुरूरवा-उर्वशी बनने की कोशिश में उनकी जो फजीहत हुई वह हम गत दृश्य में देख चुके हैं। आज वे उस उद्यान में आ पहुँचे हैं।

(परदा उठता है)

प्रेम—(मुँह से सीटी बजाता हुआ) 'शाम हो गयी और सोमा अभी तक नहीं आई ! एपांइटमेंट तो दी थी, भूल गई क्या ? हाँ,...

सब कुछ मुमकिन है।' (फिर मूर्ख की तरह समय काटने के लिये सीटी बजाता है)।

सोमा—(हाँफती हुई) 'आह, आई एम वेरी सॉरी। मुझे देर हो गयी। बात यह थी कि घर में मेहमान आ गये और फुफ्फी ने...'

प्रेम—'यह सब बहाने बनाना छोड़ो, तुमने मुझको भुला दिया है, तुमने मुझको भुला दिया है!'

सोमा—'तुम भी कविता करने लगे क्या?'

प्रेम—'हाँ, आजकल बेकार ही रहता हूँ। तुम जानती हो सोमा एम. ए. डिप्लोमेसी में कर चुका हूँ, नौकरी मिलती नहीं। बेकारी में समय काटने को जैसे सिगरेट फूँकना, सीटी बजाना, और प्रेम-गीत या विरह-गीत लिखना अच्छा शुगल रहता है।'

सोम—'तुम ताश नहीं खेलते क्या? बात यह है कि ताश खेलोगे किससे? तुम ठहरे चिड़ी के गुलाम और कोई क्वीन आफ हार्ट्स मिलती नहीं होगी।'

प्रेम—'मैंने ज्यादा पढ़ा नहीं है, परीक्षा के पहिले कुछ थोड़े नोट रट रटा लेता था। वैसे सुना है शेक्सपीयर, वर्डस्वर्थ, चर्चिल, बर्नाड शा वगैरह ने कविता बड़ी उमदा लिखी है।'

सोमा—(हँसकर) 'तुम पूरे बुद्धू हो! चर्चिल ने या शा ने कहीं कविता लिखी है? हमारे देश में कौन-सा कवि और नाटककार ऐसा हो गया है जिसकी चीजें बहुत प्रसिद्ध हैं?'

प्रेम—'हमारे यहाँ सोमा, हमारे यहाँ? जरा सोच लेने दो! थोड़ा सोचने का मौका दो न! सच कहूँ, मैं अपने यहाँ की चीजें बहुत कम पढ़ता हूँ, पढ़ने लायक ही नहीं होतीं। एकाध चवन्नी—छः आने वाली किसी कहानी का रिसाला पढ़ लेता हूँ। उसमें जरा लजीज रोमांस की चीज होती है बस। वैसे मुझे इल्म नहीं कि अपने देश में भी कोई बड़े कवि, नाटककार हुए हैं?'

सोम—'प्रेम, तुम्हारा अपने देश के प्रति प्रेम बहुत सराहनीय है।'

प्रेम—'क्या कहूँ सोमा, समय ही नहीं मिला। कोर्स ज्यादा था, खेलते रहे। जनरल रीडिंग की ही नहीं, बचपन से पढ़ाई ही

ऐसी रही ! ज्याग्रफी, साउथ अमरीका और अफ्रीका की पढ़ी। बाद में हिस्ट्री योरुप की। फिर फिजिक्स, केमेस्ट्री, ट्रिग्नामेट्री पढ़ी। बाद में बारबरा, सिलेरेंट, डेरी आई, फेरियो, पढ़ता रहा। फिर रोमन ला पढ़ा। बी० ए० में मैंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ली थी। एम० ए० में तो डिप्लोमेसी से पास हो गया। वर्ना कभी पास होता ही नहीं। अब बोलो कब पढ़ता तुम्हारे संस्कृत के कवि और पालि, अर्द्ध-मागधी अपभ्रन्श आदि की रचना को ?'

सोमा—'वह कुछ नहीं प्रेम, तुम कालिदास पढ़ो, वर्ना तुम्हारा नाम व्यर्थ है।'

प्रेम—'हाँ, हाँ, कालिदास का जिकर सुना था। बड़ा लिखने-वाला हो गया है, बहुत अच्छे-अच्छे गाने उसने लिखे हैं। हमने तो भाई फिल्म में देखा था। क्यों, उसकी बीबी का नाम शकुन्तला या कुछ ऐसा ही था न ?'

सोमा—'तुमने कालिदास का शकुन्तला नहीं पढ़ा है ? अभिज्ञान शाकुन्तलम् ? व्यर्थ है तुम्हारा जीवन। जर्मन महाकवि गेटे तक उस पर मुग्ध होकर.....'

प्रेम—'कौन जर्मन-सिल्वर कवि तुम बोलीं ? वाकई तुम्हारा सजेशन अच्छा है। मुझे आर्टिस्ट या कवि वगैरह बनने से पहिले कुछ ये बड़े-बड़े नाम वाले पोस्टर्स पढ़ लेने चाहिए। कम-से-कम इनके बारे में कुछ गप-शप करने लायक जानकारी हो जाय तो बुरा नहीं है। मगर तुम जानती हो कि मैं किस कदर भावुक हूँ। मैं समझता हूँ कि अधिक अध्ययन से मेरी मौलिकता नष्ट हो जायगी। इसलिए मैं केवल अपने नाम को ही सार्थक करता हूँ।'

(गुनगुनाता है)

"इश्क नाजुक मिजाज है बेहद
अक्ल का बोझ उठा नहीं सकता।"

और दृश्य बदलता है।

उद्यान संचालक—'आओ बच्चो ! आज तुम्हें कालिदास की वीथी में ले चलता हूँ। इधर से आओ—जरा धीरे-धीरे। बस, अब तुम महर्षि कण्व के आश्रम में आ पहुँचे। तुम कहोगे कि यह कैसे

जाना ? ये चिह्न तुम्हें नहीं दिखाई देते, देखो—पेड़ों के नीचे मुनियों का अन्न पड़ा है। तोतों के मुँह से अधचाखे फल जो गिरे हों, वही उनका अन्न है। चिकनी शिलाएँ दिखाई दे रही हैं। इस पर मुनि जन इंगुदि-फल पीस रहे हैं। यहाँ मनुष्यों से हिरन हिल गये हैं। यहाँ नदी के किनारे पगडंडियाँ दिखाई देने लगीं और नये पल्लव धुंधराये हुए हैं क्योंकि उन पर होम का धुँआ छाया है। इसी आम्र-भूमि में उपवन हैं जहाँ ऐसे मृगछौने निधड़क घूम रहे हैं कि जिनके कटि के दाग नहीं रहे, क्योंकि उनके मन में कोई शंका नहीं है। यहाँ नित्य ही वन-महोत्सव है, क्योंकि तपस्वियों की कन्याएँ और पालित आश्रम बालिकाएँ अपने-अपने वित्त-अनुसार कोई छोटी कोई बड़ी गगरी लिये पौधे सींचने को आती हैं। धन्य है ! कैसा मनोहर इनका दर्शन है ! अब यही आधुनिका सोमा प्राचीन शकुन्तला बनी अपनी सखी से वार्तालाप में निमग्न जान पड़ती है.....'

(स्त्रियों का समवेत स्वर)

सखी—'शकुन्तले ! तुम कितनी अच्छी लगती हो ?'

सोमा—'मुझे तो शर्म-सी लगती है। ये तीन अंशुकों से कैसे काम चला लेते होंगे ? पेड़ों की छाल वैसे है तो नरम, पर न जाने कैसी जंगलियों-सी लगती होगी ?'

सखी—'नहीं, नहीं, शकुन्तला ! जैसे कमल सिवार से ढकने पर भी सुन्दर दिखाई देता है, जैसे चन्द्रमा कलंक से भी विभूषित होता है, वैसे ही ये वल्कल भी आप पहने हैं तो क्या, मूलतः जो सुन्दर है वह निरलंकृत भी सुन्दर ही है।'

सोमा—'जाओ, तुम बड़ी वैसी हो ! देखो, हवा से बकुल के पत्ते कैसे हिल रहे हैं, मानो वे मुझे अँगुलियों से अपने पास बुला रहे हैं। मैं जाती हूँ उनका भी मन रख आऊँ।'

सखी—'हे शकुन्तले ! देख, यह नई चमेली जिसका नाम तुमने बन-ज्योत्स्ना रखा है, इस आम की कैसी स्वयंवर-बधू बनी है। क्या तू इसे भूल गयी ?'

सोमा—'इसे भूल गयी तो मैं अपने आपको भी भूल जाऊँगी। सखी, अच्छी ऋतु में ये लता-वृक्ष मिले हैं।'

सखी—'वृक्षों-वनस्पतियों, कीटकों, पक्षियों, पशुओं सबके प्रेम-मिलन के लिये निश्चित ऋतु हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिस के लिये सब ऋतु एक समान है।'

सोमा—(घबड़ाकर) 'यह भौंरा मेरे पीछे लग गया है, मैं भागती हूँ। मुझे बचाओ, बचाओ!'

सखी—'हम बचानेवाली कौन है? राजा दुष्यन्त की दुहाई दे, वही बचायेगा। क्योंकि तपोवनों की रक्षा राजा के सिर होती है।'

दुष्यन्त—(सहसा आकर) 'हे सुन्दरी, तेरा तपोव्रत तो सफल है।'

सखी—'यह आश्रम-कन्या है सो लजाती है। आप जैसे अतिथि आये फिर क्यों न तपोव्रत सफल होगा?'

सोमा—'चुप भी रहो, मैं लजाती-वजाती कुछ नही।'

सखी—'सखी जाओ, कुटी से कुछ फल-फूल-अर्घ ले आओ।'

सोमा—'अरी चुप रहो! सब खतम हो गया है।'

प्रेम—'नहीं, नही, मुझे कुछ नही चाहिए। आपके मीठे बोलने से ही अतिथि-सत्कार हो गया। (धीमे से) वैसे घर मे शूगर-कोटा समाप्त हो ही रहा था। आपकी बातों की मिठास से वह पूरा हो जायगा।'

सखी—'आइए, आप इस सप्तपर्ण को छाँह-तले बैठिए। इस शीतल चबूतरे पर बैठकर विश्राम कीजिए।'

प्रेम—'आप भी इस काम से थक गयी होंगी। आइए, आप भी बैठिए।'

सखी—'हाँ, हाँ, शकुन्तला आओ, अतिथि के पास बैठना हमें उचित ही है। आओ यहाँ बैठें।'

प्रेम—'सचमुच मैं कालिदास के कल्पना लोक में पहुँच गया। वर्ना आजकल अतिथि को देखकर हम नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं! मेहमानदारी एक और मुश्किल होती है! धन्य हो आश्रम की लड़कियो! समान वयस और समान रूप में तुम्हारी आपस की प्रीति बड़ी अच्छी लगती है।'

सखी--'आप की बातचीत से विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि आप किस राजवंश के भूषण हैं ? और किस देश की प्रजा को विरह में छोड़ यहाँ पधारे हो ?'

प्रेम--'जी नहीं, जी नहीं, मैं कहीं भी किसी भी रियासत का यानी जो अब विलय न में आ गयी हो, ऐसी किसी रियासत का राजपुत्र नहीं औ र मान लीजिए मै होता भी तो मेरी अनुपस्थिति से हमारी प्रजा सुखी ही होती। राजा के रहते भारतवर्ष में प्रजा इतनी सुखी नहीं रहती, जितना आप सोचती हैं।'

सखी--'क्या कारण है, जिससे आपने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।'

प्रेम--'अब मै आपसे क्या बताऊँ! हे ऋषि कुमारी! पुण्यवंशी राजा ने मुझे राज के धर्मकाज सौंप रखे है, इसलिये यहाँ आश्रम में आया हूँ कि देखूँ तपस्वियों के काम में कुछ विघ्न तो नही होता।'

सखी--'हे शकुन्तला, यदि आज पिता जी घर होते तो अच्छा होता।'

सोमा--(रिस से) 'तो क्या होता ?'

सखी--'तो इस अनोखे पाहुने को प्यारी-से-प्यारी वस्तु देकर भी कृतार्थ करते।'

सोमा--'चलो, हटो भी! तुम मन से बात गढ़ कर कहती हो। मैं तुम्हारी न सुनूँगी।'

प्रेम--'हे युवतियो! अब मै भी तुम्हारा वृतान्त पूछता हूँ।'

सखी--'अजी यह भी आपका अनुग्रह है।'

प्रेम--'यह कौन हैं ?'

सखी--'यह कण्व ऋषि की बेटी शकुन्तला है।'

प्रेम--'कण्व महर्षि तो सदा के ब्रह्मचारी हैं फिर यह तुम्हारी सखी उनकी बेटी कैसे हुई ?'

सखी--'अजी सुनो, कौशिक-वंशी एक बड़ा पुरुषोत्तम राजर्षि है।'

प्रेम--'हाँ, मैंने राजर्षि के बारे में सुना है।'

सखी—'हाँ, उन्हीं से हमारी सखी की उत्पत्ति जानो। और, कण्व जी इसके पिता इसलिए कहे जाते हैं कि पड़ी हुई को उठा लाये थे और उन्होंने इसे पाला-पोसा है।'

प्रेम—'पड़ी हुई !'

सखी—'उस राजर्षि ने जब गोमती नदी के तीर पर बड़ा उग्र तप किया, तो सुनते हैं कि देवताओं के मन मे कुछ शंका हुई। सो उनका तप बिगाड़नेवाली मेनका नाम की अप्सरा उसके पास भेजी।'

प्रेम—'सच है, देवता औरों की तपस्या से डर जाते हैं। भला फिर क्या हुआ ?'

सखी—'आगे की बात क्या कहने की है। वसन्त के आरम्भ में मेनका की उन्मादिनी छवि निरखते ही.....'

प्रेम—'बस, बस, आगे मत कहो, मैं समझ गया। तो यह अप्सरा-जात हैं।'

सखी—'जी !'

प्रेम—'ठीक ही तो है। ऐसा रूप कहीं मानव से उत्पन्न हो सकता है ? धरती से बिजली कभी नहीं निकलती।'

सोमा—'हाँ, बादल से निकलती है, या पानी से। पर बिजली-घर तो अक्सर धरती पर ही होते हैं।'

प्रेम—'चुप रहो सोमा, हम कालिदास की शकुन्तला के काल में है। बिजलीघरवाली बिजली को भूल जाओ।'

सोमा—'बिजली न होगी तो जेनरेटर कैसे चलेंगे ? आइस्क्रीम कैसे मिलेगी और कोल्ड-ड्रिंक ?'

प्रेम—'हे शकुन्तले ! मुझे हिमखंड युक्त पेय-प्राशन की प्रबल इच्छा जो हुई है, वह समझ सकता हूँ। पुष्प लताओं का अभिसिञ्चन करने से जो तुम्हें श्रम हुआ है उसका परिहार आवश्यक है कैसे कहूँ कि.....?'

सखी—'हाँ, मन में कुछ पूछने की इच्छा जान पड़ती है ?'

प्रेम—'हाँ, कुछ पूछना चाहता तो हूँ पर कैसे पूछूँ ? प्रेम के व्यवहारों को बिगाड़ने वाला वैराग्य है, सो तुम बताओ कि शकुन्तला इस वैराग्य को विवाह तक ही सहेगी, अथवा जन्म भर अपनी-सी आँखों वाली हरनियों में बिना ब्याहे रहेगी ?'

सखी—'अजी ब्याह की बात भली चलाई। हमारी सखी तो धर्म-कर्म से पराये वश में है, फिर भी पिता का संकल्प है कि समान वर मिले तो इसे ब्याह दें।'

प्रेम—'यह संकल्प पूरा होना बहुत कठिन नहीं। अखबार में वर चाहिए का विज्ञापन दे दिया जाय।'

सोमा—'ले सखी, मैं तो जाती हूँ।'

सखी—'क्यों जाती हो ?'

सोमा—'मैं गौतमी से जाकर कहूँगी कि मुझ से अनकहनी बात कहती है।'

सखी—'यह तो उचित नहीं कि तू ऐसे अनोखे पाहुने को बिना सत्कार किये छोड़कर चली जाय !'

प्रेम—'अहा ! मनुष्य के मन की बात बाहर के चिह्नों से ही प्रकट हो जाती है। ऐसा बिहेवियरिस्ट साइकालोजिस्ट कहते हैं। मुनि-सुता के पीछे मैंने चलना चाहा परन्तु मर्यादा ने रोक लिया। यद्यपि स्थान से उठा नहीं था। तो भी ऐसा लगता है मानो कुछ चल कर लौट आया हूँ।'

सखी—'ये दो वृक्ष और सींचकर हम चलेंगे, वन-महोत्सव पूरा कर लें।'

प्रेम—'पानी सींचने के घड़े उठाते-उठाते हथेली लाल हो गयी है, करनफूल हिलता नहीं है, क्योंकि पसीने से उसकी पंखड़ी कपोल से चिपक गयी है। और जूड़े की गाँठ खुल गयी है, इससे बालों को एक हाथ में थामे हुए है।'

सोमा—'तुम यहाँ शिकार करने आये जान पड़ते हो ! आश्रम में शिकार करना मना है, यह तुम जानते हो ?'

प्रेम—'हाँ, बहेलिया नहीं हूँ। मन को समझाने के लिये कभी-कभी यह भी शौक कर लेता हूँ, पर जी बहलाने के लिये यह ख्याल अच्छा है ?'

सोमा—'मैं शिकारियों से नफरत करती हूँ।'

प्रेम—'ओडि एट् आओ। क्वारे इड पशियम, फौर्टेस्से रिक्वाइ-रिस नेस्सियो सेड फीहरी सेंटियो एट् एक-स्यूशि और।'

सोमा—'देवभाषा बोलने के बजाय यह तुम किस बोली में बोलने लगे ? क्या भूत भगाने का कोई मन्तर तो नही पढ़ रहे हो!'

प्रेम—'हे शकुन्तले मैं लैटिन का उद्धरण बोल रहा हूँ। इसे कैटिलस ने लिखा है। इसका अर्थ है, 'मैं नफरत करता हूँ और प्रेम भी करता हूँ।' शायद तुम पूछोगी कि मैं ऐसा क्यों करता हूँ ? मैं नहीं जानता, मगर मैं ऐसा अनुभव अवश्य करता हूँ। तो यह जो नफरत की बात तुमने कही है, यह एक तरह से प्यार ही है।'

सोमा—'मैं तुम्हारी बकवास नही सुनना चाहती, मैं जा रही हूँ।'

प्रेम—'अच्छा तो यह अँगूठी तो पहनती जाओ।'

सोमा—'अच्छा देखूँ ! ओहो, इस पर तो दुष्यन्त राजा का नाम लिखा हुआ है।'

प्रेम—'इसे लेने में तुम संकोच मत करो, कि यह राजा की वस्तु है क्योंकि मैं भी तो राज-पुरुष हूँ। मुझे यह राज ही से मिली है।'

उद्यान संचालक—'दुष्यन्त-शकुन्तला बनने का समय समाप्त होता है। वेदकाल में प्रेम मुक्त रूप से होता था, कालिदास-काला में भी स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची नहीं थी। पर प्रेम और सोम, तुम उस युग में कब तक रहना पसन्द करोगे ? तुम तो ऊब जाते हो, पुराने जमाने से जल्दी ही थक जाते हो। आओ, यह आधुनिक युग का पार्क है, काफी हाउसेज हैं और वहाँ से अर्थ-शून्य सिनेमाई गाने बराबर जोरों से रेंक-रेंक, रँभा-रँभाकर तुम्हें बुला रहे हैं, तुम्हें बुला रहे हैं।'

—:०:—

: १२ :

नाटक देखकर डिक्सन और लिजा का बड़ा मनोरंजन हुआ। उन्होंने मनोहर को ऐसा व्यंगपूर्ण नाटक लिखने पर बधाई भी दी। पर नाटक शरण को कतई अच्छा नहीं लगा। उसका ख्याल था कि मजदूर-संघ में काम करने वाले उस जैसे आदर्शवादी युवक को यह सब नहीं दिखाना चाहिए। इससे भारतीय संस्कृति का अपमान होता है।

मनोहर ने उसके साथ इसलिये बहस नहीं की कि 'भारतीय संस्कृति' शब्द की, इस देश में, मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना, अलग-अलग परिभाषाएँ हैं।

विद्यार्थियों के नाटक के बाद मनोहर सोचने लगा कि ऐसी ही कोई चीज मजदूरों के लिये क्यों नहीं की जा सकती! उनमें से अज्ञान, जहालत, अंध-श्रद्धा, गंदगी और व्यसनासक्ति कम करनी हो तो रंगमंच बड़ा प्रभावशाली अस्त्र सिद्ध हो सकता है। पर यह काम तभी हो सकता है, जब उन्हीं में से लेखक निकलें और उन्हीं में से नाटक खेलने वाले।

इधर केशो और मनोहर की मैत्री हो गई थी।

बार-बार उनकी मुलाकात होती थी और दोनों एक दूसरे की ईमानदारी से प्रभावित थे। मनोहर केवल मजदूरों का हित चाहता था—और उसके लिये आजीवन सब कुछ करने को तैयार था। केशो के मन से भी वे सब नेता बनने के सस्ते सपने मिट चुके थे, जो लाल झंडेवाली यूनियन ने उसमें लहकाये थे।

इस बीच में एक ऐसी बात घटित हुई जिसने उसके आदर्शवाद के प्रति सारे विश्वास को मूलतः झकझोर दिया।

मनोहर और लिज़ा का प्रेम बढ़ते-बढ़ते ऐसी सीमा तक पहुँचा कि लिज़ा ने मनोहर से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। लिज़ा विदेशिनी थी, विधर्मिनी थी, भिन्न संस्कृतिवाली थी। यह सब

होते हुए भी, घरवालों की किंचिन्मात्र परवाह न करके मनोहर उसे अगीकार कर लेता, कि उसे सहसा ख्याल हो आया कि 'आजीवन ब्रह्मचारी' रह कर ३०) महावार पर मजदूरों की सेवा करने का जो बाण्ड उसने भर दिया था, उसके कर्ता-धर्ताओं से भी तो वह सलाह ले ले।

श्रीमान् जी आये हुए थे। मनोहर शरण को लेकर वहाँ पहुँचा। स्वयं विषय कैसे खोल कर रखता? शरण ने बात छेड़ी।

श्रीमान् जी ने सुना। गंभीर मुद्रा बना कर बोले—'मिशनरी लड़की है? यूरोपियन? अवश्य जासूस होगी। यह विवाह और मजदूर-संघ का कार्य एक साथ आप नहीं कर सकते।'

मनोहर ने बहुत समझाने की कोशिश की कि इस तरह से उसकी कार्य-शक्ति दुगनी हो जाएगी। मजदूरों की वैद्यकीय सेवा में उसका सहयोग भी उसे मिलेगा, पर श्रीमान् जी सुनने के 'मूड' में नहीं थे। वे बोले—'हम ने सफेद चमड़ीवाले गोरों के खिलाफ जिहाद छेड़ रखी है और तुम कहते हो कि काले और गोरों का इस तरह मेल हो? नामुमकिन....'

मनोहर ने कहा—'मनुष्य तो काले-गोरे से ऊपर है और यहाँ मेरे उसके प्रति आकृष्ट होने का, या शारीरिक लिप्सा का नहीं, परन्तु प्रश्न उसकी ओर से प्रस्ताव का है।'

श्रीमान् जी ने जैसे बडी गहरी भाँपी हो इस तरह गुन कर कहा—'ये सब बातें मैं समझता हूँ। ये सब आप ही की कराई करतूत है, आप ही की लगाई आग है। आपको विवाह करना हो चाहे नहीं, पर अब ऐसे चलित-चित्त व्यक्ति को हमारे संघ मे स्थान नहीं है।'

मन-ही-मन मनोहर ने कहा—'मैंने सब बातें साफ कह दीं तो ये उलटे मुझे डाँटने लगे! मुरारी जो कविता के रूप में अपनी प्रेम-भावना के साथ प्रवंचना करता है, वह इन्हें पसंद है!' उसका जी न जाने कैसा-सा हो आया। वह वहाँ से उठ आया।

बंडूराम जी ने जब बात सुनी तो उनकी प्रतिक्रिया और भी भयानक हुई। बोले—'मैं पहले ही से कहता था—इन पढ़े-लिखे

बाबुओं को हमारे काम में न लो, ऐसा ही होगा। यहाँ तो हमारे जैसे लट्ठ लोगों की जरूरत है जिन पर न किसी नेत्र-कटाक्ष का कोई असर होता है, न किसी कविता की पंक्ति का.....'

शरण ने उससे बड़ी सहानुभूति जताई और उसकी मदद करने की भी कोशिश की--पर यह संभव न हो सका।

मजदूर-संघ भी जैसी और संस्थाएँ होती है एक तरह का साँचा था। व्यक्तित्व वहाँ दब-कुचल कर मिट जाता है, उभरता नहीं। संस्थावाद और व्यक्तित्व का जैसे ३ और ६ का सम्बन्ध है। यही कारण है कि हमारे देश में हजारों संस्थाएँ कुकुरमुत्तों-सी पनपती हैं--उत्पद्यते-विलीयन्ते--व्यक्तित्त्व यहाँ बहुत थोड़े हैं!

व्यक्तित्त्व का अर्थ है अन्दर की इकाई। बाहर खंडित करने-वाले इतने साधन मौजूद हैं कि बहुधा व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता।

जब यह बात फैल गई कि मनोहर मजदूर-संघ छोड़ देगा--त्यागपत्र दे देगा, तो कम्यूनिस्टों में से कई लोगों ने कोशिश की कि यह मेधावी, वक्ता, सुलेखक हमारे गिरोह में आ जाय।

पर वहाँ उसके समीप जाकर मनोहर ने देखा कि तर्क की पीठिका देकर व्यक्तित्त्व का इतना सुव्यवस्थित हनन, उसे और कहीं नहीं मिलेगा। वह उस राह नहीं गया।

उधर जब लिज़ा को पता चला कि उसी के प्रस्ताव के कारण मनोहर को इतना मानसिक कष्ट है, तो उसने मजदूर-संघ के मुख्य श्रीमान् जी को पत्र लिखा, जिसका महत्त्व का अंश यह था--

"मैंने सुना है कि मेरे कारण मनोहर को सेवा-पथ से विचलित किया जा रहा है। मैं ही उसके राह में आई सो मैं चुपचाप हट जाती हूँ। अगले जहाज से मैं अपने मातृ-देश वापिस जा रही हूँ। मैं आश्वासन देती हूँ कि जाने से पहले मैं मनोहर से नही मिलूँगी।"

यह पत्र जब श्रीमान् जी ने मनोहर को दिखलाया और पूछा, 'अब बोलो ? आजीवन सेवा-पथ--तुम्हें मंजूर है ?'

मनोहर ने गर्दन हिलाकर मौन इनकार किया। उसके मन में गहरी घुमड़न थी, पर शब्द जैसे उसका साथ नहीं दे रहे थे!

श्रमिकों का हित, उसके प्रेम को काटकर, जैसे सामने खड़ा था—पर कब तक ? जब तक उसका श्रेय-प्रेय एक नहीं हो जाता, वह और किसी का क्या भला कर सकता था ?

या फिर कामरेड 'क' का मार्ग—विश्व के मजदूर एक होओ ! व्यक्तिगत जीवन में वेश्याओं के प्रति वासना-प्रदर्शन जायज—क्योंकि तर्क यह दिया जाता था कि यह तो ह्रासोन्मुखी पूँजीवादी व्यवस्था का अभिशाप है। समाज जब तक नहीं बदलेगा, यह कैसे बदल सकता है ? सुविधाजीवी, अविवेकी, खंडित आत्माएँ...

मनोहर ने निश्चय कर लिया कि वह रास्ता उसका नहीं है, नहीं हो सकता है ! कदापि नहीं ! नहीं ! नहीं.....।

—:०:—

: १३ :

केशो मिल के यांत्रिक जीवन से ऊब गया था। उसे इंदौर का पानी बुरा लगता था, खाना बुरा लगता था। हर चीज में जैसे एक नकलीपन था, मिलावट और बनावटीपन। उसको भूख कम लगने लगी, उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। जिस परिवार के लिए वह यह सब कुछ कर रहा था—उससे बरसों भेंट नहीं होती थी। जसमन्ती गाँव में अलग दुःखी थी। उसको बहुत दिनों से पेट का ऐसा विकार हो गया था कि अच्छा नहीं होता था, तिस पर घर का सारा काम-काज—उसकी सेहत गिरती जा रही थी। आखिरी दर्शन दे जाने की बात उसने पत्र में लिखा था।

मांगीराम की बात और थी, उस पर कोई परिवारिक जिम्मेदारी नहीं थी। उसे बहुत-सी सुखद सोहबत मिल गई थी, जिसमें वह रम गया था। पर केशो का मन बार-बार गाँव की ओर उलट-उलट कर देखता था। वह यह जानता था कि गाँव जाकर गाँव वैसा ही उसे नहीं मिलेगा। फिर भी पुरातन का मोह बड़ी चीज है, वह हड्डियों में से खींचा नहीं जा सकता।

एक तरफ केशो इस साँचे से ऊबकर पुरातन की ओर जाना चाहता था, दूसरी ओर मनोहर इस साँचे से ऊबकर अभिनूतन की ओर जाना चाहता था। पर साँचे की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी।

इस बात को मनोहर की डायरी के अंशों से समझा जा सकता है। उसमें से चुनकर कुछ अंश हम दे रहे हैं :

'दुनिया को धोखा दिया जा सकता है, अपने आप को नहीं। काल और देश, चेतना के साँचे हैं। व्यक्ति की आत्मा इनसे परे है। आदमी साँचा बनाता है, पर बनाते हुए खुद साँचा बनता जाता है। आजीवन कुछ करने का वादा देनेवाले हम कौन होते हैं? क्या हमें पता है कि हमारा जीवन कितना बड़ा है? मैंने पूरे सही ढंग और ईमानदार इरादे से कोशिश की थी कि श्रमिकों का सुधार हो, भला हो, अच्छे साधनों से हो। पर यहाँ की माया ही दूसरी है। बहुत रामनाम जपनेवालों की बगल में छुरी भी है। और पराया माल अपना करनेवाले भी कई बार साधु-मना निकलते हैं।'

:०: :०: :०: :०:

'विश्व-प्रेम और प्रणय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम को वासना से अलग करने जाने की कोशिश करना मनुष्य को देह से अलग देखने के बराबर है। शरण जो कि इतना बड़ा प्यूरिटन बनता था--कामना की अग्नि में झुलस गया। हर पतंगे का यही विचार होता है कि उसी के कारण शमा जल रही है।'

:०: :०: :०: :०:

'हम जब राजनीति की बात करते हैं तो उसके छिछलेपन के पीछे कितनी शक्तियाँ हैं उन्हें नहीं जानते। हमारे अनेक अवरुद्ध, कुंठित भाव क्रांति का नारा बनकर उभरते हैं। वस्तुतः जब हम क्रांति की बात करते हैं तो सबसे अधिक क्रांति हम अपने भीतर करना चाहते हैं। क्या युग किसी समाधान की तलाश में घूम रहा है? नहीं।

वह समाधान नहीं चाहता। वह निरन्तर एक असमाधानता के बाद दूसरी ईजाद किये जा रहा है।'

:०: :०: :०: :०:

'आदर्शवादी जब यथार्थ के सामने सिर झुका देता है, तो उसे हम आदर्शवादी की हार मानते हैं। पर जब यथार्थवादी आदर्शवादी को चकमा या झाँसा देकर आगे बढ़ता है, तो हम उसे उसकी बड़ी सफलता मानते हैं!

यथार्थ का साँचा निर्भय है! अब इसने अंध नियति का स्थान ले लिया है।

हमारे सारे विकार-विचार प्रवृत्ति-निवृत्ति, संकल्प-विकल्प जब उसमें से होकर गुजरते हैं, तो उसके सामने झुक जाते हैं। बिरले ही होते हैं जो उस यत्र को लात मारकर आत्मावलंबन का मार्ग जोहते हैं। सबको वह मार्ग कैसे संभव है?'

:०: :०: :०: ०:

—और मनोहर ने मजदूर-संघ छोड़ दिया। वह चुपचाप एक देहाती स्कूल में मास्टर बन गया।

—और केशो ने मिल की नौकरी छोड़ दी। वह मांगी राम को इन्दौर में ही छोड़कर शुजालपुर लौटकर चला गया।

—:०:—

: १४ :

दस बरस बाद...

केशो फिर बीच में शुजालपुर से अपनी पत्नी और बच्चों को शहर में रहने के लिए ले आया था।

शहर और गाँव दोनों इन दस बरसों में कितने बदल गये थे। युद्ध-काल में मुनाफा कमाना व्यापारी और मालधारी का एकमात्र उद्देश्य रह गया था, फलतः चार पैसे केशो के हाथ में भी खेलने लगे थे। उसकी दृष्टि भी बदल गयी थी। पहले वह इन्कलाबी-मजदूर-संघ में काम करता था, अब धीरे-धीरे वह मजदूर चरित्र-सुधार सभा का मेम्बर बन गया।

इसी बीच में एक बार मिल में हड़ताल हुई। एकदम बिजली की तरह हड़ताल ! कोई पहले से नोटिस नहीं दी गई थी और न बाकायदा कारणों का कच्चा चिट्ठा ही दिया गया था। दोपहर की छुट्टी की सीटी बजी और मजदूर काम पर से निकल आये। चीटियों की-सी, झुड-की-झुंड कतारें--फाटक से, हर दरवाजे से बाहर निकलने लगे। दरवाजे के दरबान और खान मूँछो को बल देते, नपुंसक क्रोध से फर्श के पत्थर पर डंडा पीटते हुए, देखते खड़े रहे।

मजदूरिनें निकली। एक-दूसरे से फुसफुसा रहीं थीं--'सुन्द्री, क्यों है री हड़ताल ?'

'बलराम मिल में किसी जाबर ने साँचे पर के आदमी को मारा है !' गंगा ने गर्दन हिलाते हुए बहुत समझदारी से भरा जवाब दिया। पारबती ने नकारात्मक सिर हिलाया--'नही, नही ! पन्ना मिल में चक्के में एक फिटर आ गया था--उसे भट्ठी में झोंक दिया गया है !'

यासीना ने कहा--'ये सब गप्पे है ! महँगाई नहीं मिली, इसी की हड़ताल है !'

गंगा ने फिर कहा--'मारपीट का मामला है री !'

'होगा होगा ! चलो अब कुछ दिन के लिए बच्चों को दूध नहीं मिलेगा !'

'ये यूनियनवाले क्या करते है, पता नहीं ?'

'ये क्या भूखों को बराबर महीनों तक खिलायेंगे ?'

'सदावर्त नहीं खोला है।'

'मजदूर एकता जिंदाबाद !' नारा लगाता हुआ एक जत्था सामने से आ रहा था। चौराहे पर मैदान मे कामरेड चीख रहे थे--'भाइयो और बहनो ! साथियो !! अभी इस जंग का मतलब तुम लोग पूरी तरह नहीं समझे ! यह जंग एक मुल्क और दूसरे मुल्क के खिलाफ नहीं है। मजदूरों का स्वर्ग जो देश है उसके खिलाफ यह सारी दुनिया की साजिश है.....'

केशो ने धीरे से कहा--'पर सुना है वहाँ बाबू होते ही नहीं, सब औरतें और आदमी काम करते हैं, सब देश के सिपाही है !'

मांगीराम ने इस बात पर आकर हड़ताल तोड़ने का पूरा खौफनाक रूप दिखलाना शुरू किया––'मजदूर भाइयो ! जो कोई हड़ताल पर जायगा उसका नाम रजिस्टर से काट दिया जायगा, ––उसे बोनस नही मिलेगा । समझे । इसलिये भाइयो ! आप मेरी बात मानो !––अगर तुम काम नही करोगे तो कानपूर से बहुत से बदलीवाले आ गये हैं––उन्हें काम का तजुरबा भी ज्यादा है !'

'मारो साले को !––पूँजीपतियों का एजेंट है !.....'

'ये रूस के एजेंट हैं !'

'ये कांग्रेसी, सोशलिस्ट हिटलर के गुर्गे हैं !'

मजदूर-जमात को इस आपसी गाली-गलौज में जरा भी समझ में नही आ रहा था कि कौन किसका एजेंट है ? कौन किसका गुर्गा है ? कौन किसका 'स्टूफ्ज' है ? नतीजा यह था कि मजदूर-जमात इन सब राजनैतिक गिरोहों की शिकार हो रही थी । भोली-भाली जनता ! सबसे अधिक दर्द उसी को झेलना था, वही सबसे अधिक कष्ट मे थी । नेता लोग तो किसी-न-किसी कदर मजे में रह लेते थे । जेल में या बाहर उनकी सुध लेने वाले अखबार थे, राजनैतिक पार्टियाँ थीं, देश मे और देश के बाहर के न्यस्त स्वार्थ थे ! देश-भक्ति का ऊपर से गोपी-चन्दन था ही !

पर वह जो अपनी जिन्दगी बराबर गंदी चालों में, टीन की छतों के नीचे, बदबूदार नालियों के पास, सीलन भरी, अँधेरी कोठरियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बिताते जाते थे––या कहें कि जिंदगी को किसी तरह मरियल कुत्ते की तरह घसीट रहे थे––उनका सच्चा हिमायती कौन था ? सब ही आठ-आठ आँसू बहाते थे, ऊँची मानवता की बातें करते थे ! पर मनोहर बराबर देख रहा था कि एक यूनियन जो सन् '३५ में थी, सन् '४५ तक आते-आते उसकी चार यूनियनें बन गईं थीं––लाल झंडा अलग था, सोशलिस्ट अलग थे । नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस अलग थी, बोलशेविक रिवोल्यूशनरी पार्टी और थी और...न जाने कितनी क्या-क्या यूनियनें थीं ? मजदूरों की

एकता के नाम पर वे छोटे-छोटे संघ, वे जमातें, सभाएँ और एकताएँ उस बड़ी एकता को खंडित कर रही थीं, तिल-तिल तोड़ रही थीं, जिसकी मजदूरों को आवश्यकता थी ।

मनोहर के वे आदर्श स्वप्न ! वह मजदूरों को सुखी बनायेगा, मित्र पाठशाला में लिखा-पढ़ा कर, उनमें कला और साहित्य के प्रति प्रेम पैदा करायेगा---उन्हें जाति-भेद, प्रान्त-भेद से ऊपर उठाकर एक राष्ट्रीयता सिखलायेगा---सब एक-एक कर चूर-चूर होते जाते थे ! शीशे की तरह, ठीकरे की तरह, बालू की तरह कण-कण बिखरते जाते थे...

उसे लगता था कि इस बड़ी भारी आँच, इस भयानक भट्ठी के ऊपर वह निरी एक बूँद है...

इतने बड़े दर्द के महासागर को सोखने की प्रतिज्ञा करने वाले अगस्त्य की आचमनी का साहस तो देखो ! समुद्र को पी जाने वाली एक टिटहरी...!

व्यर्थ है उसका यह भ्रम और विश्वास ! यह अहंता और यह उत्साह ! व्यर्थ है उसका अहद कि वह आजीवन सेवा और त्याग करेगा ! वह ब्रह्मचारी रहेगा, परिवार का बन्धन नही पालेगा और वह इस 'काँज' के लिए बलि होगा । व्यर्थ है मनोहर...!

पर फिर धीरे से कहीं से ध्वनि आती---व्यर्थ कुछ नही होता । एक-एक बूँद जमा होकर समुद्र हो जाता है ! जब तेरी कोई हाँक न सुने तब अकेले चलो, अकेले...!

पर वह टूटने लगता है । तब जैसे निष्ठा के आधार के लिए मन तिलमिला उठता है, तब की एक मनस्थिति की झाँकी---

मजदूर-संघ में आजीवन काम करने का वायदा तोड़ने और त्याग-पत्र देने से पहले मनोहर ने लिज़ा को पत्र लिखा और अपने काम के विषय में मन के भाव यों लिख भेजे---

प्रिय लिज़ा,

आज मैं तुम्हें अपने मन की बात लिखने जा रहा हूँ---जबकि मेरी निष्ठा टूटने को हो रही है। श्री डिक्सन---तुम्हारे पिता के साथ

एक बार मिशनरी-स्पिरिट पर बहस हुई थी। क्या प्रत्याशा थी जिसको सामने रखे बिना, सुदूर समुद्र पार के ये धार्मिक सैनिक, जाकर एकाएक काम में आजीवन जुट गये—मुड़कर उन्होंने पीछे नहीं देखा। किस फल की कामना थी? नहीं, वहाँ कर्तव्य ही अपने-आप में अपना इनाम था।

पर लिज़ा मुझे यह आदर्शवाद प्रेरणा नहीं दे पाता, मुझे लगता है कि मेरा यह सब काम विफल है। हमने स्वयं-सेवकों की टुकड़ियाँ ले जाकर मुहल्लों की सफाई की, पर गन्दगी ज्यों-की-त्यों बाकी है। हमने रात की पाठशालाएँ अनवरत चलाईं पर निरक्षरता का भूत ज्यों-का-त्यों दरवाजे पर खड़ा है! हमने शराब की दूकानों पर पिकेटिंग की, व्यसनासक्ति कहाँ कम हो पाई है? हमने बहुत जी तोड़कर कहा 'कि कर्ज न करो, ये सहकारी-समितियाँ हैं इन पर विश्वास करो, तो भी ये मजदूर बराबर खान-पठान और साहूकारों से चोरी-चुपके सवाये ब्याज पर कर्ज लेते रहे! क्यों? हमने कहा कि चरित्र की ऊँचाई...मजदूर अविश्वास से हँसे—'मालूम हैं ये सफेद कालर वाले उपदेश! बहुत सुन चुके!!'

क्या हमारे मजदूरों की आत्मा मर गई है? या हमारे उपदेशों के पीछे सच्चे सिक्के की वह सच्ची झन्नाहट नहीं है? कहीं-न-कहीं कुछ हुआ है कि आदमी के चिंतन और भावना में एक बड़ी दरार पड़ गई है और यह खंडित मानव किसी खोखले में जैसे चक्कर काट रहा है। भँवर में पड़े हुए तिनके-सा, निराधार, भविष्य-हीन, आवर्त-प्रताड़ित, निस्संग, दयनीय..!

तुम्हारे देश में पता नहीं क्या दशा है? पर औद्योगिक सभ्यता का क्या यह अवश्यंभावी परिणाम है? अधिक अवकाश, अधिक फुरसत, अधिक आलस्य, अधिक उत्तेजक पदार्थ, अधिक नींद लानेवाले पदार्थ—भाग-दौड़ और अन्त में एक मूर्च्छना...!

हमारी ज़िन्दगियाँ साँचे में जैसे बँध-सी गयी हैं, वैसे ही, जैसे पुराने जमाने के चीनियों में बच्चों के पाँव लकड़ी के चौखटे में बाँध दिये जाते थे। विधि-निषेध के ये चौखटे, खाँचे, दरबे, दराज़, छोटे-छोटे आले और बिल! क्या हमारी इच्छाएँ और हमारे इरादे कोई पालतू पक्षी हैं? या चिड़ियाखाने में कैद, बोतल-बन्द, जन्तु-कीट?

इस यंत्र-युग ने मनुष्य को कीड़े-मकोड़े से भी बदतर बना दिया है !

पर फिर भी कहीं-न-कहीं, शायद कोई-न-कोई चिन्मय अंश बाकी है जो इस सारी अधोमुख प्रतिगति के बाद भी हमें जीने के लिए उकसाता है, उसकी गति-अंधता में आशय भरता है। जो कहता है कि मरीचिका के परे नखलिस्तान है और हर मंजिल मुकाम है। इस बर्फानी चोटी से परे हरी-भरी घाटियाँ हैं। मनुष्य की संकल्प-शक्ति दुर्दमनीय है। वह भौतिक परिस्थितियों के शिकंजे में फंसकर निरी साँचे जैसी नहीं बनेगी। वह स्वतन्त्र है ! वह प्रज्ञामयी है !

आज मेरी एक मजदूर बच्चे से बातचीत हो रही थी। मैंने पूछा—'तुम क्या बनना चाहते हो ?'

बोला—'मैं राजा बनना चाहता हूँ !'

मैंने पूछा—'कहाँ का ?'

उसने कहा—'इस देश का।'

मैंने सवाल किया—'अगर दूसरे देश का और ताकतवर राजा तुम पर हमला कर दे तो ?'

उसने झट से उत्तर दिया—'मैं उससे लड़ूँगा।'

मैंने पूछा—'कैसे ? सिपाही तो तुम्हारे पास हैं नहीं ?'

उसने कहा—'मैं अकेले लड़ूँगा ? अपनी पूरी ताकत से लड़ूँगा। ज्यादह-से-ज्यादह वह क्या करेगा ? मुझे मार डालेगा न ? मैं मर जाऊँगा।'

मैंने उसकी पीठ ठोंकते हुए कहा—'शाबाश, बहादुर बच्चे ! सच के लिए ऐसे ही मर जाना बड़ी बात है ! तुम बहादुर देश के बहादुर बच्चे हो !'

और वहाँ से मैं लौट आया।

राह में वही गंदे नाले, वही एक नल पर पानी की बूँद-बूँद के लिए लड़ने वाली मजदूरिनें ! तथा वह सभी बुराइयाँ थीं जो हम देख चुके हैं, वर्षों के अन्तराल ने उसमें सुधार नहीं पैदा किया था।

पर मुझे लगा कि हम में यह सच के लिए मर जाने की जो अदम्य निष्ठा गाँधी ने पैदा की है, वही एकमात्र चीज है, जो हमें इस घटाटोप अँधेरे में भी अपनी अखंड और निष्कंप बाती जलाये रखने के लिए उकसाती है। वैसे तो गजब का अँधेरा छाया हुआ है, पर इस निर्धूम शिखा जैसी स्वर्ण-आत्मज्योति को कौन-सा स्नेह टिकाये हुए है?

जीवन को जीवन का ही आधार है, उसे मौत नहीं चुननी है। यह संग्राम जो हर क्षण चल रहा है वह हमारी संकल्प-शक्ति को चुनौती है! नहीं-नहीं हम ऑटोमैटान नहीं बनेंगे, हम 'रोबौ' नहीं हैं! हम किसी तानाशाह या चक्रवर्ती की अँगुलियों पर नाचने वाली कठपुतलियाँ नहीं हैं! हममें अभी भी स्वतन्त्र प्रज्ञा शेष है! हम स्वतन्त्र विचारों के वाहक, स्वतन्त्र वायु में साँस लेने वाले, स्वतन्त्र मानव हैं!!"

और इसी तरह की बहुत-सी दार्शनिक मनोमन्थन की बातें उसमें थीं। लिज़ा इसका क्या उत्तर देती?

—:०:—

: १५ :

द्वितीय महायुद्ध काल में लिज़ा की एक चिट्ठी किसी तरह भारत में मनोहर के पास आ गई। उसमें यह मज़मून था :—

प्रिय मनोहर,

हाल में मैंने 'हरिजन' में गांधी का वह लेख पढ़ा जिसमें उन्होंने नाजी और सोवियत रूस दोनों सेनाओं को और दोनों ओर की हिंसा को एक ही शब्दों में याद किया था।

तुम्हें उतनी दूर से यह बात अजीब लगे, पर यहाँ जर्मन सैनिकों के एक कांसेट्रेशन कैंप में से मैं अभी छूटी हूँ और यह बात मुझे बहुत सही जान पड़ती है।

हिटलर ने क्या किया था ? देश की कौमियत की भावना को साँचेबन्द बनाकर नारा दिया था—'एक जनता, एक झंडा, एक नेता' (आईन वोल्क, आईन राइख, आईन फ्युहरेर) ।

और रूस में भी क्या हुआ ? क्रान्ति के बाद त्रातस्की के साथ और रादेक के साथ और बुखारिन के साथ ? हिंसा दुमुँही और अंधी होती है, आदमी को बंदूक का कुंदा और रिवाल्वर का चाप बना डालती है । क्या जाने किसी दिन तुम्हारे इस गांधी को भी ऐसी ही अंधी, नृशंस, जघन्य, साँचे-बंद हिंसा का लक्ष्य न बनना पड़े !

और दोनों ओर के कांसेट्रेशन-कैम्पों में क्या हुआ ? भूख से तिलमिलाकर इन्सान मरे, मानवता की दुहाई देनेवाले आदर्शवादियों की वहाँ एक न चली । क्रूरता साँचे-बंद ढंग से आदमियों के प्राणों को कुचलती चली गई और ये कँटीले तारों के घेरे आत्मा को चारों ओर से जकड़ते रहे और पास आते रहे !

वहाँ आर्य हो या स्लाव, भूरी कुर्ती हो या लाल, पुरुष हो या स्त्री, चुनने का प्रश्न ही नहीं था । मनुष्य जब किसी ऐसे मतवाद के दुराग्रह के चक्कर में आ जाता है, तो समूह व्यक्ति को खा जाता है । समष्टि उसके निजी विवेक को वैसे ही लील जाती है—जैसे तूफान में समुद्र लहर को । फिर तो बचा रहता है भैरव, दुर्द्धर्ष, भयानक विनाश ! मात्र मुंड और कंकाल, अस्थिशेष, ढूह, केवल घूरे के ढेर और कुछ नहीं ! सब कुछ जैसे स्वाहा हो जाता है । धीरे-धीरे मार-काट की बातें सुनते-देखते नजर जैसे मर जाती है, उसे लगता है कि उसकी नैतिकता की सूक्ष्म धार खुरदरी हो रही है, उसकी आत्मा घुटकर मर गई है, उसकी शक्ति चुक गई है, उसकी आँखों में दृष्टि पथरा गई है और इन्द्रिय संवेदना का ज्ञान सो गया है ।

ऐसे वक्त मुझे तुम्हारा देश याद आता है । वह विंध्य-पर्वत की मेखलाकार हरी-भरी चोटियाँ, वह नर्मदा की उत्ताल उच्छल जल-राशि, वह पर्वतों से उछलकर पाताल का छोर गहने वाले प्रपात, वह भीलों की टोलियाँ जो घने जंगलों में घास काटती हुई घूमती थीं—कितना निस्तब्ध और गतिहीन और फिर भी जैसे किसी भव्य पुराचीन शिल्प की तरह चिर-जागरूक ! कैसा विचित्र है तुम्हारा

देश ! उसके रेशे-रेशे में पुरातन के साथ नूतन का समन्वय है। वहाँ जितना गहरे में जाओ उतनी ही अद्‌भुत पर्तों पर पर्तें खुलती हैं !

मैं अन्वेषक नहीं हूँ ! अंतिम सत्य मेरे लिए एक कुहासा बना रहे तो मेरे लेखे उससे मनुष्य और मनुष्य के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आता। पर तुम्हारे देश में उसी सत्य की शोध के पीछे लोग कैसे पागल हैं ! यहाँ मेरे योरुप में आकर लोगों को बताओ कि बारूद और जान लेने के अनंत तरीकों से बढ़कर भी एक बड़ा सत्य है, 'जीना और जीने देना'। ये उसे कब सीखेंगे ? कब ? कब ?

वह देश जो दुनिया से कहता फिरता है, 'वह सबकी मुक्ति करेगा' 'गुलामों को सिवा बेड़ियों के और क्या खोना है ?' पर वह जब युद्ध-कैदियों को कष्टप्रद और अज्ञात स्थानों पर ले जा रहा था—तब, तुम जानते हो उसने उन बंदियों की नाम-सूचियाँ भी नहीं रखीं थी गाजर-मूली की तरह उन्हें गारत कर दिया था। ट्रेन के डिब्बों में जितनी संख्या में उन्हें आना चाहिए था वह संख्या पूरी नही हुई तो उसने जहाँ से गाड़ी जाती थी, वहाँ के आसपास के किसानों को पकड़-पकड़कर डिब्बों में ठूँस दिया और संख्या पूरी कर ली।

'युद्ध में और प्रेम में सब कुछ जायज है।' कैसे यह कहावत सच मानी जाय ? क्या मनुष्य इतना गया-गुजरा हो गया है कि उसे इस बात का खौफ नहीं रहा कि आज वह जो दूसरे के साथ कर रहा है, कल वही उसके साथ भी बीत सकता है ! उफ् ! यंत्र-सभ्यता से कभी-कभी मेरा मन ऊब उठता है और हिमालय की किसी कंदरा में जाकर शेष जीवन एकान्त में, चुपचाप बिताने का मन होता है।

यंत्र से अधिक उत्पादन बढ़ा, अधिक उत्पादन से खपत बढ़ाने के लिए और मंडियों की जरूरत बढ़ी, मंडियों को प्राप्त करने का मतलब हुआ साम्राज्य-विस्तार, और साम्राज्य-विस्तार का मतलब है शस्त्रास्त्रों की होड़। उस होड़ का अन्तिम परिणाम है मनुष्य के हृदय का स्वयमेव यंत्रवत् हो जाना। क्या इस्पात का उपयोग आदमी ने इसीलिए सीखा था ? इसी अंत के लिए ?

फिर सब से बड़ा व्यंग तो देखो, कि हम ईसाई कहलाते हैं ! हब सबसे बड़े परोपकारी और सबसे बड़े दाता कहलाते हैं। वह सलीब पर यह दुआ माँगते-माँगते मर गया—'पितः क्षमा करो, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं !' और हम उसके करोड़ों नालायक अनुयायी हैं—जर्मनी में और रूस में, स्पेन में और इटली में, चीन में और जापान में, अमरीका में और कहाँ नहीं—जिनका पेशा ही हर मिनट, हर लमहे पर उस परम पिता को तिल-तिल कर कीलें ठोंक-ठोंक कर मारना बन गया है।

इन्सान की ऐसी दशा जिस औद्योगिक सभ्यता का परिणाम है, वह सभ्यता नहीं है, वह एक बहुत बड़ी गलती है।

यहाँ तुम्हें पिताजी बहुत याद करते रहते हैं। वे बार-बार तुम्हारी उस पुरानी बहस की याद करते हैं जब तुमने धर्मान्तर को गलत कहा था। कट्टरपन, चाहे जिस रंग और कोटि का हो, मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है ! मजहबी कट्टरपन, कौमी कट्टरपन; और नाजीयत के नारे, यह दुनिया भर को आर्य बना देने की चिल्ल-पों, यह सारी दुनिया को 'सभ्य' और 'मुक्त' करने का दावा, यह लालच और गिद्धों की-सी छीना-झपटी—यह सब आदमी की आत्मा में लगे हुए घुन हैं। ऐसा विकृत इन्सान कोई बड़ी कलाकृति कभी नहीं निर्मित कर सकता।

तुम क्या कर रहे हो ? वहाँ मजदूरों की रात की पाठशाला में वर्णमाला पढ़ा रहे हो न ! क्या तुम आजीवन यही करते रहोगे ? वे स्लेटें बार-बार लिखी जायेंगी और मिटा दी जायेंगी, पर तुम्हारी आत्मा की स्लेट पर लिखा हुआ सवाल अनुत्तरित ही रहेगा।

तुम्हारे यहाँ युद्ध की आँच तो नहीं पहुँची होगी। सीता-सावित्री का वह देश बड़ा पवित्र, पाकदामन, युद्ध की बुराइयों से बचा हुचा रहा होगा। वहाँ के हाल लिखो !

यहाँ का तो जितना लिखा जाय बुरा है, न लिखना ही भला है। हम जैसे एक भट्ठी में से निकलकर दूसरी धधकती हुई भट्ठी में गिरते जा रहे हैं।

पत्र मिले तो पहुँच देना। प्रेमसहित——

तुम्हारी——लिज़ा

—:०:—

: १६ :

मनोहर ने लिज़ा को एक चिट्ठी लिखी थी। कलकत्ते के अकाल के वक्त युद्धकालीन भारत की दास्तां बताते हुए, उसने अपनी आँखों से जो हालत देखी थी उसका वर्णन किया था। उसके कुछ अंश ये थे——

'कहानी किसी जिंदा चीज की नहीं, एक दीवार की है। आज उसका जो हाल है, दस बरस पहले नहीं था। आज तो उसकी ईंटों ने दाँत बिचका दिये हैं, काई-सिवार छा गयी है, पुराने बरगद ने अपनी शाखें भी उसमें जमा दी हैं, यह सब कुछ तब नहीं था। रईसजादे की हवेली के एक कमरे की वह दीवार थी। आज तो वह लावारिस बेवा की तरह, खुली पड़ी है, उसके अंग ढीले हो गये हैं। नंगे आसमान का साया ऊपर है, और कभी-कभी उस पर उगी हुई सूखी घास की फुनगियों को हवा इस तरह गुदगुदा जाती है जैसे कोई जख्म सहला रहा हो। तब, ये सब कुछ नहीं थे, बाकायदा रंगीन चूने के पलस्तर की यह दीवार थी, कमरे के अन्दर झाड़-फानूस लटक रहे थे, जिनकी रोशनी काँच के लोलकों में से सतरंगा नाच करती हुई नीचे गद्दी पर बिछी शराब की प्यालियों में थिरकती थी। तब इस दीवार की जवानी थी, इसका जमाना था, इसमें खूटियाँ थीं जिन पर जरी और रेशमी पोशाकें टँगी रहतीं, और पोशाकें इतनी ज्यादा थीं कि कि वे अलसाई हुई शलवारें और कुर्ते, वे शेरवानियाँ और जाकिटें कोई उन खूटियों से उतारता ही नहीं था। कपड़े ज्यादा थे, पहनने वाले कम। इसी दीवार में तब एक झरोखा भी था, जहाँ चिक पड़ी रहती थी।

कभी-कभी कोई चाँद का टुकड़ा जिसकी आँखों में प्रतीक्षा बर्फ-सी जम गयी थी, उसमें से झाँकता। झरोखे में सुन्दर नक्काशी और पच्चीकारी हो रही थी, और आज उसके टूटे हुए कंगूरे देखकर पुरातत्व-वेत्ता कहते हैं कि यह राजपूत—मिश्र—मुगल शैली की बनावट है। आज उस दीवार के उस फूटे हुए झरोखे से कोई-कोई बन्दर, भीख के दाने चुगने वाले फकीर के कटोरे की ओर भूखी आँखें गड़ाये, कभी आकर अपना पहलू खुजला लेता है। आदमी का यह समझदार पुरखा इस ताक में है कि कब वह भिखारी सो जाये और कब वह उस कटोरे पर झपटे।

छीना-झपटी है, सब के ऊपर यही छीना-झपटी है! छीना-झपटी का ही नाम जिन्दगी है। इस दीवार ने भी दस बरस पहले रंगीनियों के आलम से कुछ लहमे छीन लिये थे, आज है कि वे लहमे और किसी ने छीन लिये।

मैं तब इस शहर में परदेशी बना हुआ आया था, इसी दीवार के सामने ठिठका था। इसकी रंगीनियों को देखकर चौंधिया गया था और सोचता था कि लोग क्या हैं जो खामख्वाह ताज और अजन्ता की खूबसूरती का इसीलिये बखान करते हैं कि वह समझ में नहीं आती; सच्ची सुन्दरता तो यहाँ है। दीवार और उसमें के ये झरोखे क्या सजे-बजे हैं! खुशकिस्मती समझिये या एक इत्तिफाक समझिये, मेरी और उस दीवार के अन्दर रहने वाले की पुरानी पहिचान निकली और मैं उस दीवार से घिरी जगह का और उसकी रंगीनी के वक्त का एक हिस्सेदार बन गया था, यह इस कहानी के लिये बेमुद्दा बात है कि मेरे उस हम-उम्र दोस्त की दूर की बहन से, जो उस दीवार के साये में रहती थी मेरी मुहब्बत हो गयी, या उसने उस मुहब्बत को ठुकरा दिया, या मैं इस बात से चिढ़ कर वहाँ से चला गया, या और कुछ ऐसी ही व्यक्तिगत बातें हुईं।

बात इतनी ही है, कि दस बरस बाद इसी शहर में अब मैं परदेशी नहीं, मगर कुछ ऐसा बनकर आ बसा हूँ, कि रोज उस दीवार के पास से मुझे गुजरना पड़ता है। फिर भी मुझे उस पुरानी मीठी-सी याद ने उतना कभी नहीं सताया, जितना कि आज। जो 'सीन' मैं वहाँ देखकर

अभी-अभी आया हूँ, उसने मेरे चित्त में उचाट-सी पैदा कर दी है और बेमन-सा अपना काम कर रहा हूँ। दफ्तर के आँकड़ों के आगे कभी सिफर ही सिफर बने हुए दीखते है और जी होता है दिल खोलकर रो लूँ ! मगर पास में देखता हूँ कि बैरा दीवार-सा तना खड़ा है, और डाक आयी है, और मुझे चिट्ठियाँ पढ़नी जरूरी हैं, और...!

ऐसी कई बातें मैं जरूरी समझता हूँ, मगर उस चीज को मैं जरूरी नहीं समझता, जो मैंने उस दीवार के साये में देखी। दीवार के पास एक गली है और उन दोनों के बीच गंदी-सी नाली और फुटपाथ है। एक बिजली का खम्भा बीच में किसी बेदिल योगी की भाँति खड़ा है, जिसके तारों पर शाम हुई कि लाखों कबूतर इकट्ठे हो जाते हैं। रात को आसमान का जो स्याह टुकड़ा ऊपर दिखाई देता है उससे दीवार की स्याहपोशी और भी डरावनी लगती है, और दुनिया की इतनी कालिख पर मानो व्यंग से हँसती हुई यह बिजली की रोशनी एक नियत समय पर फक से जलती है और वैसे ही बुझ जाती है। काश जिन्दगी का आनन्द ऐसा ही अपने हाथों मिलने वाला और जब चाहिए तब 'स्विच' दबाते ही मिट जाने वाला होता।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मैंने उस दीवार के पास क्या देखा ? वही जो देखना नहीं चाहिए था ! वही जो कि हमारी इस सभ्य और सुसंस्कृत दुनिया पर ऐसा कलंक है जो करोड़ों शायरों के करोड़ों कागजी आँसुओं से धुल नहीं सकता। कुछ लोगों का मजमा जमा था, और मैंने समझा कि कोई बाजीगर या दवाफरोश अपनी तकरीर बिना फीस के सुनने वालों पर लाद रहा होगा ? मगर देखता क्या हूँ, कि मजमे के भीतर से कोई आवाज नहीं आ रही है और नफरत से मुँह पर बल डालकर मजमे के कुछ लोग वहाँ से हटते जा रहे हैं। प्रायः सात बजे होंगे कि मैं भी तमाशबीनों में से एक हो गया। एक आदमी, जो कि गुण्डा-टाइप नजर आता था, फटी-सी झोली बिना आस्तीन की कमीज, भड़कीला जाकिट और घुटनों तक की धोती पहने कुछ फुसफुसा रहा था। उसके पास ही

एक टूटी-सी टीन की सन्दूक पड़ी थी और बेतरह धूल से सना हुआ एक दस-बारह बरस का खुशनक्श लड़का मटमैले कपड़े पहने, चेहरे पर लाचारी, मुफलिसी और मजबूरी से बिल्कुल बचपन से ही जंग लड़ने का भाव लिए, उसी सन्दूक पर बैठा था। करीब ही खम्भों से लिपटी, शर्म की पुतली-सी, एक मामूली-खूबसूरत, जवान लड़की इस तरह खड़ी थी, जैसे काठ की बनी हो। उसके जिस्म में कोई हलचल तो दूर, साँस भरने तक की धड़कन दिखाई नहीं देती थी। वही जाकिट वाला आदमी, मजमे से अगर कोई आँख से इशारा करता तो दीवार की एक ओर ले जाकर उससे चुपके से कुछ बातें करता—कुछ उँगलियों के इशारे होते, उस आदमी की भवें गुस्से से तन जातीं, फिर वह मजमे वाला आदमी मजमे में शामिल हो जाता। फिर वह वहीं आकर किसी मजे हुए 'एक्टर' की तरह दहाड़ मारकर रोता और चीखकर कहता—'कोई बचैयो, कोई हमें एक जून रोटी दे दो! भुखमरी के शिकार हैं, चार-दिन के उपवासे हैं, इन बच्चों पर तो रहम करो!'

बच्चे की आँखें चमक रही थीं, पर उनमें बेहद खौफ भी समाया हुआ था। पता नहीं इस शैतान ने उसे क्या-क्या धौंस दी थी? नतीजा यह था कि उसकी जबान को मानो लकवा मार गया था। किस्सा मुख्तसर में यह था कि वह गुण्डा इस लड़की और बच्चे को, जिन्हें वह भुखमरी से बचाकर किसी तरह फुसलाकर यहाँ ले आया था, मँहगे-से-मँहगे दामों में बेचना चाहता था। उनकी मुफलिसी का फायदा उठाकर यह भलामानस, बीसवीं सदी में, और सभ्यता के इस युग में, जब कि दुनिया भर की आजादियों की दुहाइयाँ दी जाती हैं, ऐसा पाप करने जा रहा था जिसकी कोई मिसाल नहीं, और जिस के ख्याल से ही रूह काँपती है।

मैं यह कुछ सरे-आम, दिन-दहाड़े होते हुए देखकर उस आदमी को पास के चौराहे की पुलिस के हवाले करने की सोच ही रहा था कि देखता क्या हूँ, गली के नुक्कड़ पर एक नई-सी मोटर रुकी, एक तेजकदम, अधेड़, बावर्चीनुमा आदमी वहाँ तक आया। उस जाकिटवाले को एक ओर ले गया, पैंट की जेब में हाथ डाले, बैग निकाला। कुछ कागजों की सरसराहट—जाकिट वाले के मुँह

पर कुछ परेशानी, कुछ गुस्सैल अल्फाजों का विनिमय; फिर जाकिट-वाले के मुँह पर मुस्कराहट! वह मोटर वाला लड़की की कुहनी और बाजू पकड़कर घसीटता-सा गली के पास तेजी से रफूचक्कर हो गया। मैं देखूँ कि मोटर का नम्बर क्या था कि इतने में उड़ती हुई गर्द ने उस नम्बर को छिपा दिया। आज की सभ्यता, फुर्ती से, यान्त्रिक गति से, इतने-इतने किलोमीटर फी घण्टा की रफ्तार से भाग निकली, पीछे हमारे हाथों रही सिर्फ गर्द और गुबार...!

मैं उस साँवली, भूख की मारी लड़की की वे चमकीली आँखें कभी नहीं भूलूँगा जिनमें एक युग की हसरत छिपी थी। वह लड़की उसी 'सोनार बंगाल' की थी, जिसके आस-पास तोपों के बमबाज मँडरा रहे थे और जहाँ अन्नचोरों ने देवी मनुष्यता के साथ बलात्कार किया था। जब उसने आखिरी बार अपने भाई की ओर देखा तो वह बोल नहीं सकी, वह रोई भी नहीं, गुस्से की चिनगारियों ने उसकी आँखों के आँसू सुखा दिये थे। मुझे जान पडा जैसे वर्षों पहले जिसने मेरी मुहब्बत को ठुकरा दिया था, उसी लड़की की आँखें मैं फिर देख रहा हूँ। मैंने चाहा कि इस जाकिटवाले को मैं फाँसी पर चढ़ा दूँ, मगर मेरे और उसके बीच में अब एक दीवार खड़ी थी। मेरे और उस लड़की के, उस लड़की को खरीदकर ले जाने वाले कसाई के तथा मेरे और मेरे अपने ही बीच में एक बड़ी, ऊबड़-खाबड़, फूहड़, घिनौनी, कूबड़ दीवार खड़ी थी, जिसका झरोखा टूटकर कंगूरे बचे थे, जिसके रुपहले बाल तिनके जैसे हवा में हिल रहे थे, जो कुछ कहना चाहती थी और कह नहीं पाती थी।

उस दीवार के कुछ ठीक से पुते हिस्से पर अनगिनत इश्तहार चिपके हैं—औरतों को इण्डियन रेडक्रास में भर्ती होने की अपील से लगाकर, 'सरोवर की सुन्दरी' और 'हंटर वाली' के सिनेमा के भद्दे इश्तिहार तक। दवाइयों के, गंदे जर्मों के, कांग्रेस के, नाच के, किताबों के, कपड़े की दूकानों के, रेलवे के, सफर कम करने के, अखबारों की सुर्खियों के, जलूसों के इश्तिहारों पर इश्तिहार! दुनिया आज एक ऊबड़-खाबड़ दीवार की मानिन्द है, जिस पर हम इन्सान इश्तिहार से चिपके अपना-अपना इजहार कर रहे हैं। मुहब्बत बिकती है, इल्म बिकता है, आज खुदा भी तराजू में तुलने

चला गया है। सब चीजें बिकाऊ हैं! दस बरस पहले और आज के बीच में, उस चाँद और सितारों के टुकड़े-सी हुस्न की परी, और इस साँवली, भूखी, गुलाम लड़की के बीच में, मेरी इज्जतदारी और तुम्हारी इज्जतदारी के बीच में एक दीवार बनी हुई है, जो गिरने को है, मगर पूरी तरह गिरी नहीं है। आज इस दीवार में पुराने बरगद ने शाखें फैला डाली हैं।

समाज कहता है—पाप! पाप कहता है—समाज! कौन इस पहेली को पहिले सुलझाये? बात इतनी जरूर है कि जो घटना मैंने अपनी आँखों से देखी, वह प्रतिदिन कहीं-न-कहीं चोरी-छिपे घटती रहती होगी। मगर हमने ये सब घटनाएँ अपनी पलकों की दीवार की ओट में डाल दी हैं, हमने कानून बना दिये हैं, जो मुजरिम को सजा देते हैं, हमने धर्म-शास्त्र लिख डाले हैं, जो पाप और पुण्य की बारीकियाँ तौलते हैं। मगर हमने यह नहीं देखा कि हमारे मनु और मूसा हमारे आपस के ही बीच में आज दीवार बन गये हैं। कानून बहरा है, और ये दीवारें भी बेजुबाँ और बेदर्द खड़ी हैं।

मुमकिन है कि वह बेची हुई लड़की किसी सिनेमा की 'स्टार' बन गई हो, किसी कोठे पर चढ़कर झरोखे से झाँकने वाली बन गई हो, या यतीमखाने में पहुँच गई हो। कहानी के इस सब खट्टे-मीठे अंजामों से हमें कोई सरोकार नहीं। कहानी असल में वहीं खत्म हो गई थी, जहाँ वह शुरू हुई थी कि एक दीवार है—युद्धकालीन भारत एक दीवार है।

—:०:—

: १७ :

दस बरस बड़ा अर्सा होता है। केशो ने जिस मिल में जिस वेतन पर काम शुरू किया था, दस बरस में वह चींटी की तरह आगे रेंगा था, कोई तरक्की उसने नहीं की थी। इस बीच में मँहगाई बढ़ी थी, और मिल में हड़तालें भी ज्यादह होने लगी थीं, जिनमें

केशो ने आगे बढ़-बढ़ कर हिस्सा लिया था। केशो भी मजदूर नेता बन गया था, पर मांगीराम की और उसकी जरा भी नहीं बनती थी। बदमाश मांगीराम ने हड़ताल-तोड़क का काम कई बार किया था, मजदूर उसे अच्छी निगाह से नहीं देखते थे, मांगीराम दादा बन गया था।

शरण ने अब रहस्यवादी-छायावादी, कविता लिखना छोड़ दिया था और कुमारी कामिनी से वह परिणय-बद्ध होने जा रहा था। जितना ही अधिक वह सेक्स से भागने और आचरण-शुद्धि का उपदेश देता था, उतना ही उसके मन के सुप्त कोने में कुचली हुई लिप्साएँ अंध आवेग बनकर छिपी पड़ी थी।

एक दिन शरण और मनोहर के बीच मे बहुत जोरों की बहस हो गयी। शरण की राय से द्वितीय महायुद्ध मे हिटलर के खिलाफ मित्र राष्ट्रों का, रूस और इंगलैंड का गठबन्धन नैतिक था और मनोहर की दृष्टि में दोनों ही एक-से हिंसा-लिप्त युद्ध-पिपासु थे। बहस की दौरान में तेजी में आकर शरण ने कहा—'तुम कैसे कहते हो कि दोनों ही एक-से हैं? देखते नहीं इटली में मुसोलनी की और जर्मनी में हिटलर की नीति एक तानाशाही है, फासिज्म, नाज़िज्म है।' शरण ने इस तरह से मुँह बनाया जैसे किसी घृणित, जुगुप्साप्रद वस्तु का नाम ले रहा हो:—'और इसके उत्तर में दूसरे पक्ष में लोकतंत्र है, साम्यवाद है, मानवमात्र की पूंजीवादी शिकजे से मुक्ति का आश्वासन है।'

मनोहर ने कहा—'मित्र, ज्यादा राजनीति तो हमारी समझ में नहीं आती, पर जब-जब तुम युटोपिया और सब्ज बाग की बातें करने लगते हो, तो मुझे लगता है कि तुम जैसी छायावादी कविता पहले लिखते थे, वही प्रयोग गद्य में करने जा रहे हो। तुम्हारा चिंतन कुहरे से भरा हुआ है, स्पष्ट नहीं है। चूँकि तुम गरीबी मे रहे हो, गरीबी तुम्हारे आसपास है; तुम्हें साम्यवाद का आकर्षण जान पड़ता है, पर है वहाँ भी घोर साँचेबन्दी। कुर्तो के रंग चाहे काले हों, या ब्राउन हों, या लाल हों—सब के दिमाग में 'स्टेट' नामक हौवे के प्रति एकान्त अंधी निष्ठा है जो मूर्खतापूर्ण है। व्यक्ति को कोई साँचा कैसे बना सकता है?'

'सुनो ! मनोहर, तुम 'मैटर' और 'माइंड' पर वही पुराना तर्क दुहरा रहे हो !' शरण ने कहा—'युद्ध में जब दो पक्ष हो जाते हैं तब उसमें 'लेसर ईविल' (कम-से-कम बुरा) कौन है, यह चुनना पड़ता है। जब तुम यह नहीं करते हो, तब तुम्हें कैसे समझाया जाय कि दोष का मूल कहाँ है ? आखिर यह युद्ध, जनता की शक्तियों का जन-विरोधी शक्तियों से युद्ध है। हमारे पुरोगामी कवि मुरारी जी ने तो हिटलर को रावण और विरोधियों को राम पक्षी कहकर एक लम्बी 'विजयदशमी' कविता लिख डाली है !'

'गंभीर चर्चा में मुरारी का नाम मत लो ! वह चाहे जिसके प्रति सश्रद्ध हो सकता है। वह कुछ समय तक कृष्ण-मूर्ति का भी भक्त था, कुछ समय तक साईं बाबा उसके आराध्य थे, और आज कल स्तालिन के जन-गण की स्तुति लिखता है। वह 'गलीबल' व्यक्ति है। हिन्दी के कवि यों माटी के माधो कब तक बने रहेंगे पता नहीं ?'

'यानी तुम चाहते हो कि वे भी साँचे-बंद बन जायें, रेजिमेंटल—अगर उन्होंने कोई अच्छी बात रूस के बारे में लिखी, तो उन्हें तुम इस गाली से विभूषित करोगे, न लिखी तो कहोगे युग-धर्म से अनभिज्ञ हैं। तो आखिर तुम कवि से अपेक्षा क्या करते हो ?'

मनोहर बोला—'ईमानदारी ! अपने प्रति—यानी स्वभावतः अपने परिवेश के प्रति भी !'

शरण कुछ न समझ कर बोला—'ऐसा कैसे हो सकता है ? साधारणीकरण तो यह हुआ नहीं ? हमारी परम्परा में तो काव्य 'बहुजनहिताय' होना चाहिए।'

'हम कहाँ-से-कहाँ बहकते जा रहे हैं। विभिन्न देशों के नेता जो कुछ अपने-अपने देशों में करते हैं, वह जनहिताय का दावा करके ही न ! जन का अर्थ अपनी-अपनी मति के हिसाब से ले लिया जाता है ! सच है न ? जन का अर्थ क्या अपने जन हैं ?'

शरण—'मैं कब कहता हूँ कि जन या जनता का अर्थ अस्पष्ट हो ! देश काल, इतिहास की सीमा तो होगी ही ?'

मनोहर—'ये देश-काल के साँचे मनुष्य की चेतना ने ही बनाये हैं न ? और वही चेतना आकर इनमें बँध गई, इनकी शिकार हो गयी । यह कैसे सम्भव हुआ ?'

शरण ने बहस करना उचित नहीं समझा और प्रस्ताव रखा : 'मनोहर, बहुत दिनों से हम लोगों ने साहित्य-चर्चा नहीं की है । मजदूर-संघ में थे तब तो हम आपस में एक-दूसरे की लिखी चीजें बहुत सुनाते थे, पर अब न जाने क्या हो गया है ?'

मनोहर ने कहा—'अच्छा आज थोड़ी-सी फुरसत भी है, सुनाओ तुम अपनी कविता, मैं अपने अगले अधूरे उपन्यास का आरंभिक अंश सुनाऊँगा ।'

शरण ने कहा—'मैं अपनी कविता 'बसना' सुनाता हूँ । और वह गुनगुना कर कहने लगा—

"बहुत हुआ मन उड़ना फिरना, जीवन है तो बसना भी है ।
अपने ही हाथों से दिल पर यह जंजीरें कसना भी है ।।
आँसू दुनियाँ में न बहाना, पी लेना, चुप, हँसना भी है ।
जीवन में 'हाँ ही हाँ' कब तक, बेबस 'ना' बसना भी है ।"

मनोहर ने उलाहना दिया—'यह वही शरण लिख रहा है क्या, जो कभी तुषार या आकाश गंगा और क्या-क्या नहीं लिखता था ! यथार्थ की ओर तुम काफी मुड़े हो शरण ! पर फिर भी मुझे लगता है कि वही पहला रोमांटिक रूप तुम्हारा बेहतर था ।'

'हो सकता है ! पर ऐसा तुम क्यों कहते हो ?'

'आखिर यह है क्या ?'

'देखो, मैं किताब ही लाता हूँ और मनोहर सचमुच एक किताब उठाकर ले आया जिसमें से उसने सुनाया :

'चट्टान में से झरने का बूँद-बूँद पानी भयानक समुद्र में झर रहा था । नाविकों के प्राणहरण करनेवाला महासागर उससे बोला :—

"रोने वाले प्राणी, तुम्हारा मेरे पास क्या काम है ?"

"मैं झँझावात और भयानकता हूँ! जहाँ आकाश समाप्त होता है, वहाँ मेरा आरम्भ होता है। अरे क्षुद्र जीव! मुझ असीम समुद्र को तेरी क्या जरूरत है?"

झरने ने उत्तर दिया:—

'ओ बेमाप-अथाह सागर! कोई शोर-गुल न मचाते हुए और अपनी महत्ता का प्रदर्शन न करते हुए तेरे पास जिस वस्तु का सबसे अधिक अभाव है, मैं वही देने आया हूँ।'

'वह क्या है?'

'वह है पानी की एक मीठी बूँद!'

दोनों थोड़ी देर चुप रहे!

शरण ने पूछा—'क्या पानी की यह मीठी बूँद तुम्हारे कथन के अनुसार कविता का रोमांटिकपन है?'

मनोहर ने कहा—'हो सकता है वही हो, यंत्रयुग में आकर हमारी भावनाओं के आकार बदल गये हैं, उनके आशय पर इस आकार का असर पड़ा है।'

शरण फिर नाराज हो गया। बोला—'यह कैसे हो सकता है? भावना तो प्राणों का मूल उत्स है, उसमें कैसे परिवर्तन आ सकता है? कहाँ से, कैसे, किधर से संभव है? वह तो मौलिक मानवीय भित्ति है।'

मनोहर ने थोड़ी देर आँखें मूँदीं और गम्भीरता से कहा—'युद्ध की खबरें पढ़ते हो? रोज की, भयानक, बड़े परिमाण पर हिंसा और विनाश की खबरें—क्या होगा? मनुष्य एक दिन मनुष्य को इस धरती पर से मिटा कर रहेगा। सिर्फ साँचे रह जायेंगे, सिर्फ साँचे! यंत्रों की उस निर्जीव दुनियाँ पर मैंने एक कल्पना पर आधारित भविष्यवादी उपन्यास लिखने की सोचा है, जिसमें एक भी मानवी पात्र न होगा, पूरी मनुष्य विरहित कहानी होगी।'

शरण ने ऐसी कृति का नाम पूछा।

मनोहर ने कहा—'चीजें!'

और उसने एक खाता-बही जैसा लम्बा रजिस्टर निकाला और वह पढ़ता चला गया--

'चीजें'

'--आखिर जो नहीं होना चाहिए था, वह होकर रहा। वह हुआ और जैसे हो चुका।

अणु-बम से भी भयानक हाइड्रोजन-बम और उससे भी भयानक कोबाल्ट और उससे भी भयानक जेड-बम का दोनों ओर से प्रयोग हुआ और मानव जाति नष्ट हो गयी।

धरती और आसमान वही रहे। और चीजें ज्यों-की-त्यों रहीं-- यहाँ तक की पशु-पक्षी और प्राणीजगत भी वही रहा। विज्ञान के करिश्मों से बनाई गई कई अजीबो-गरीब चीजें भी वही रहीं। सिर्फ आदमी नहीं रहा, उसकी यादें बाकी रहीं। तब की यह कहानी है और मनोहर ने भयंकर विनाश लीला की एक वीभत्स कहानी आरम्भ की।

शरण ने सुनते-सुनते मनोहर को टोककर कहा--'बस करो! तुम निरे बुद्धिवादी हो। तुम्हें भावना का जरा भी स्पर्श छू नहीं गया है! नहीं तो तुम ऐसा न लिखते?'

मनोहर ने खाता बन्द कर लिया और कहा--'देखो शरण, तुम्हारी क्रूरता, भावना, प्रेम, बुद्धिवाद, भावुकता इत्यादि की परिभाषाएँ थोड़ी बदलनी होंगी, तुम बे-समझे-बूझे शब्दों का व्यवहार करते हो ऐसा लगता है।'

शरण--'मैं यह नहीं मानता!'

मनोहर से रहा नहीं गया, उसने छूटते ही कहा--'तुम शब्दों को भी साँचों में बाँधकर चलते हो। उनके अर्थ सृष्टि के या मानवी चेतना के स्तर बदलने से बदलते हैं या नहीं? जब चींटियाँ थीं तब साम्यवाद था, जब मधुमक्खी आयी तो उसका रूप और भी समष्टिवादी बन गया। पर मकड़ी अपने घेरे से बाहर निकली, उसने अपने आसपास ही जाल बुन लिया। पर मनुष्य की चेतना न चींटी की है न मकड़ी की। शरण, तुम मनुष्य को फिर चींटी और दीमक बनाना चाहते हो? मनुष्य अपनी निर्मिति का दास नहीं है, वह

सृजन के लिए स्वतन्त्र है! जो स्वतंत्रता है, वह उसका अपना सृजन है!'

शरण—'तो फिर तुम्हारे लेखे अच्छा-बुरा कुछ नहीं ?'

मनोहर—'मन का खेल है।'

जब मन का खेल मनोहर ने कहा तो उसके मन के सामने राजो की तस्वीर आ खड़ी हुई। माँ! गौरी जब अपने परसोत्तम को छोड़कर एक जुलाहे के साथ भाग गयी थी। उसके बाद एक जुलाहे के साथ रही, राजो उसकी पहली संतान है। मगर जुलाहों की जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है ?

शुरू-शुरू में तो राजा-महाराजाओं की ओर से जरी के काम की माँग होती थी तो थोड़ा बहुत 'हुनर' दिखाने का मौका भी था, पर अब क्या था ? राजो के पास भी शौक कहाँ रहा ? विभाजन के बाद भगदड़ मच गयी—राजे ही नहीं रहे तो ज़रदोजी के काम की पूछ कहाँ थी ?

और इधर राजो के भी लच्छन अच्छे नहीं थे। उसकी नयी माँ गौरी पता नहीं कहाँ थी ? जिंदगी की बाढ़ में वह असली माँ कहीं से आयी, कहीं चली गयी। अपने पीछे यह नन्हीं-सी, किलकती जान छोड़ गयी। जुलाहे ने उसे बड़ा किया था, क्या इसी दिन के लिये ? उफ़, क्या होगा ?

आखिर राजो ने निश्चय किया कि पास के ईसाई मिशन में चली जायगी और वहाँ नर्स का धन्धा सीखेगी। वहाँ की बड़ी बहिन लिजा का नाम उसने सुना था। बड़ी ही प्रसिद्ध डाक्टरनी थी, बहुत ही सहायता करने वाली! भली, भोली, सचमुच में बड़ी बहन!

पर राजो इस निश्चय तक क्यों पहुँची यह जानने के लिये उसकी असहायता की कहानी जाननी चाहिए। वह बहुत बड़ी कहानी नहीं है। राजो के जीवन में 'वह' आया और जैसे राजो ने अपना आधार कहीं खो दिया।

वह कौन था ?

वह एक पुरुष था, उसके लिए कोई 'ना' नहीं, कुछ 'न' नहीं। व्यसन उसके जन्म के साथी थे, वासना गये जनम की साथिन। गत और आगत का कोई सोच नहीं, पाप-पुण्य की कोई चिन्ता नहीं। और तो भी वह आदमी ही था, जिन्दा था और ऐसे कितने ही आदमी होते हैं।

उसका जीवन एक ऐसी गूदड़ी था जिसमें जहाँ गलीचों और मखमली कालीनों के टुकड़े सिये था, वहाँ टाट और मटमैले छींटों के भी टुकड़े थे। उसके अनुभव अतिशय विचित्र, कितने ढंग के, कितने रंग के थे, वह खुद भी नही जानता था। कभी वह मजूमदार साहब की मोटर का ड्राइवर रह चुका था, कभी सूट भी पहने थे, छापेखाने के काम की राई-राई भी चाहो तो उससे पूछ लो। पर वह नीच था और हद दर्जे का नीच था, यह बाजार भर मे उसे जानने वाला कोई भी कह सकता था, इसे कबूल करने में किसी को कोई आना-कानी नही थी।

जैसे कोई कुआँ हो जिसका जल वर्षो से कभी बाहर न आया हो, न कभी काम मे लाया गया हो, जिसमे अगणित जन्तुओं के महा-युद्ध चल रहे हों ऐसा उसका जीवन था। और किसी अति पुरातन टूटे-फूटे धूल भरे, जिसकी पच्चीकारी भी अब मिट चुकी, उसमें कभी महान् चित्रकारी थी इसके निशान भी अब मिट चुके हों, ऐसा एक निर्जन, कभी किसी भी नवागत द्वारा आदर्शित, चिर-उपेक्षित, खंडहर-सा उसका जीवन था, चारों ओर काँटों से घिरा-घिरा!

पर ऐसे ही खंडहर में कभी किसी प्रिय साथिन के पैरों में लगा काँटा निकालने का सौभाग्य उसे मिला था और उस सौभाग्य से गर्वित व्यक्ति के लिये जैसे एक अकेली स्मृति उस चिर-उपेक्षित स्थान में हवा बनकर चक्कर काटती-सी मीठी हो उठी थी; या जैसे उन्हीं चारों ओर घिरे काँटों में एक बड़ा पवित्र सा, पीला, सरल, बनफूल लगा था, उसमें सुवास नहीं था तो भी वह लुभावना था, ऐसे ही उसकी जिन्दगी में थी—राजो।

यह बताना न होगा कि वह अति नीच पेशा करता था। वह लड़कियों को बेचा करता था। दो बुढ़ियाँ उसकी मददगार थीं।

तहखाने के अन्दर पेचीली, बदबू भरी और दम घुटने वाली किसी कोठरी के समान ही उसके जीवन में तह के भीतर तह और रहस्य के नीचे रहस्य थे। जख्म का खून निकलने भी न दिया गया हो और ऊपर से दूसरे जख्म का आयोजन किया जाने लगे। जल्लाद की आँखों-सा, खांडे की धार सा उसका मन राजो को देखकर, उससे मिलते ही क्यों नरम हो उठा था ? यह अपवित्र के लिये पवित्र की कैसी प्यास थी ? यह निरीश्वरवादियों के प्रदेश में श्रद्धा की कैसी भूख थी ? वह राक्षस के अन्तर में कैसा देवदूत था ?

और राजो ने सोचा, सोचा, सोचा आखिर वह चुपचाप उठी, घर का सामान समेटा-सुमेटा और उसके घर चली गई। आखिरी बची थी बछिया ! वह भी उसके घर में आ बँधी। रसोई बनी, खाना हुआ, वह काम पर चला गया। दुपहरी भर नीम में हवा वैसी ही सरसराती रही शाम को चिराग वैसा ही जलाया गया। वह लौटकर घर पर आया तब वह चिराग जला कर लौटी थी। उसने याद दिलाई—'देखो, जी, तुमने भैरों की शपथ खाई है—बुराई तुम्हारे मन में चोर के पैरों सी दुबकती हुई न चली आय।'

रात भर उसने उसे अपने बीते जिन्दगी के पाप सुनाया, उसमें के सबसे भड़कीले स्थान, जो-जो उसे याद थे, वह सब सुनती गई। सात लड़कियों का जीवन वह बरबाद कर चुका था और उसकी कहानी खत्म नहीं हुई थी। रात के बारह बजे के घंटे सुनाई दिये तब भी नहीं खत्म हुई थी। गश्त वाला आकर 'जागते रहो' कहते हुए रास्ते से निकल गया तब भी न थमी।

और आखिर में राजो पूछ बैठी—'और क्या मैं आठवीं हूँ !'

वह हँस पड़ा था। उसकी हँसी में कितनी सरलता, शांति आ गई थी !

तब राजो अकेले-अकेले चिराग नहीं जलाती थी। उसकी गोद का नन्हें हाथों का शैतान कभी चिराग की बाती खींच लेता था, तो कभी तेल ढुलका देता था ! अभी उस छोटे शैतान की बोली नहीं फूटी थी। पर आँगन में की बछिया थी, वह मुन्ना की साथी बन गई थी।

पुराना पेशा छोड़ दिया, करघा चल नहीं सका। राजो का पति बीमार हो गया। दिन भर खाँसता, बाहर कहीं नहीं आता-जाता, उसके यहाँ उन बुढ़ियों का आना कभी का बन्द हो चुका। शाम को घर में बिस्तर पर लेटा-लेटा ही, रुग्ण, निष्प्राण-सी आँखों से वह भैरों के आगे का चिराग और उसके बल उठते ही चमकने वाला भैरों का सिन्दूर देख लेता। उसकी दोनों घनी भौंहों के बीच मे राजो सिन्दूर का एक टीका आँक देती थी।

राजो कभी किसी शाम को अँधेरे में, जब पति की तबियत ज्यादा खराब होती तो, भैरों के आगे अगरबत्ती, बतासे चढ़ाती। हाथ जोड़ कर, आँखे मूँदे, मन-ही-मन बिनती करने बैठती—'आज मेरी जान के बदले भी उसको कोई जिला दे।'

उस दिन सुबह से ही उसकी दाहिनी आँख एक-सी फड़क रही थी। मुन्ना के माथे पर उसने डिठौना लगा दिया था दुपहर तक पति का बुखार बढ़ता ही गया था। शाम हो आई तो भैरों के आगे चिराग जला कर वह रख आई। और मुन्ना को डाँटा भी कि 'पड़ोस वालों के संग वहाँ मत खेल—रात है, अन्धेरा है, कुआँ है, घर चला आ।' अन्दर आकर वह पति की न रुकती हुई खाँसी सँभाल रही थी कि घबराया-घबराया-सा पड़ोस का लड़का आकर कहने लगा—'मुन्नू कुँआ...'

राजो बाहर से सिंदूर लाई थी, वह उसने उसके मत्थे पर टेक दिया था। वह जिसके लिये कोई 'ना' न थी, आज उसके लिये कोई 'हाँ' न बची थी। वह जीवन की गूदड़ी को करघे पर बुनने वाला जीवन की कहानी सोच रहा था। जब सात भोली आत्माओं की जिबह का कसाईखाना आँखों के सामने से गुजर गया तब मुन्ना कुएँ में गिर पड़ा था।

वही पेड़ जहाँ मानताएँ ली थीं; वही कुआँ था, वही राजो थी, पर मुन्ना वहीं था ? माँ ने बताया था कि भैरों का घर कुएँ में है। मुन्ना वही देखने, वहाँ से सिन्दूर लाने गया था। आखिरी हिचकी लेकर एक दिन उसके पति ने भी जान छोड़ दी। घर के भीतर करघा न हिला न डुला !

दुआरे पर आकर बाबा शाम की भीख माँग रहा था, बिथा की मारी राजो, अवसन्न राजो, उठकर बाहर आई। देखा पकी दाढ़ी के बाबा जी हैं। उसे जैसे भान हुआ कि उसी का बाप है। उसने दहाड़ मारकर पूछा—'मेरा मुन्ना दिला दोगे ? मेरे पति ?'

बाबा दुआ देकर लौट गया। वह मुन्ना को नहीं लौटा सकता ! ऐसा हर मुन्ना कुएँ के भीतर सिंदूर का मकान देख ही लेगा और बिना सिंदूर की अनगिनत राजो दरवाजे में खड़ी रहेंगी। उसे अब न पाप का सोच था न पुण्य का पता। उसकी पथराई आँखें मानो कह रही थीं कि उसे भैरों के सिंदूर का एक आखिरी आसरा, माना हुआ अवलम्ब था, वह आश्वासन भी आज उठ गया।

:०: :०: :०:

और भी कुछ बरस बाद—

साबरमती के पार्क में कोने वाली बेंच पर बैठा मनोहर पास बैठे हुए एक तोंदियल गुजराती से दैनिक पत्र माँग कर पढ़ रहा था। उन दो गुजरातियों के निकट दैनिक का मूल्य केवल उसमें छपे बाजार-भाव तक ही था। वे पढ़कर बाजार की तेजी-मंदी की बात-चीत करते हुए न जानें कब उठ गये, दैनिक वे भूल ही गये। शायद वे रोज ही ऐसा करते होंगे, अतः वहाँ के रद्दी कागज बटोर कर बेचने वाले आवारे छोकरे और एक खोंचे वाला वहाँ मँडरा रहे थे। खोंचे वाला 'चिवड़ा-मिक्सचर' चिल्ला-चिल्लाकर बेच रहा था और मनोहर को यह भान तो था कि उसे भूख जोर से लग आई है, फिर भी उसकी जेब खाली थी और उस खोंचे के खाद्य पदार्थों को भूखी आँखों से देखने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं था। वह भूखी दृष्टि जब थक जाती, तो जल्दी-जल्दी दैनिक पढ़ने में लग जाती और उसमें छपी खबरों का मतलब उसकी चेतना की ऊपरी सतह को छूकर चला जाता।

मनोहर बड़ी आशा से अहमदाबाद आया था कि यहाँ कम-से-कम उसे कुछ-न-कुछ काम मिल ही जायगा। यह बड़ा व्यापारी शहर, गुजरात की नाक, अस्सी मिलें जहाँ चलती हैं, वहाँ कहीं-न-कहीं तो

उस एम० ए० पास, बोलने में कुछ हकलाने वाले नौजवान को, जो इतना कमजोर है कि उसकी हड्डियाँ चाहें तो आप गिन लें—कोई काम जरूर मिल जायगा। वैसे चाहे वह कुछ भी पास हो, उसे सिवा थोड़े-बहुत गाने गुनगुना लेने के और आता ही क्या था? आज की दुनियाँ में चल निकलने के लिये जो गुण चाहिए—मक्कारी, झाँसेबाजी, खुशामद, अपना ही उल्लू सीधा करने की खुदगर्जी—इनमें से एक भी गुण तो उसमें नहीं था। गाँव में पला, ये सब सद्गुण सीखने का उसे मौका ही कहाँ मिल पाया? घर से सौतेली माँ से लड़-झगड़कर वह भाग निकला था, वहाँ खबर भी नहीं दी थी। 'अब दादा (बड़े भाई को इसी नाम से वह पुकारता था) खूब परेशान होंगे, खूब खोज करेंगे, करने दो। अब भाभी की बात मान कर नहीं पीटेंगे मुझे।' बिना टिकट चला आया, रास्ते में टिकट-चेकर ने डाँटा तो क्या कहता? हँस पड़ा। उस पर वह और भी गुस्सा हुआ। लाल-लाल गोल आँखें और मोटी-सी भद्दी नाक वाला पारसी था और वे लुंगी पहिन गंदे, फटे कपड़ों म दो पंजाबी! उनकी औरतें और बच्चे—रो रहे थे बेचारे। कह रहे थे—'भाग कर आये हैं; उधर दंगा है। खाने को कुछ नहीं है, टिकट कहाँ से दें?' पारसी टिकट-चेकर चिल्लाया—'पैसे नहीं हैं तो हम क्या करें? लाओ, भीख माँगो, कहीं से भी, कुछ भी कर के पैसे लाओ!' भूख से तप्त मनोहर की आँखें दैनिक पर दौड़ रही थी और मन सोच रहा था, 'यह कह देना बहुत आसान है पर पैसे मिलते कहाँ हैं?' चार दिन हो गये, वह इसी अहमदाबाद में चप्पलें फटकारता दर-दर घूम रहा है। ये हिंदू धर्म के ध्वज-रक्षक कहते हैं—हिन्दू-हिन्दू एक हैं, बड़ा 'संगठन' है उनमें! कहाँ एका आया? जब उस पंजाबी की आँखों से करुणा उमड़ी पड़ रही थी, तब पास ही महीन, नफीस बगुला-पंखी धोती (जो चोर बाजार में भी मुश्किल से मिलती है) पहिने, त्रिपुण्ड लगाये, चोटीधारी, एक कान में मोती की बाली ऊपर की ओर पहिने, गले में मलमल के कुर्ते के अन्दर सोने की चेन झलकाते, अपना बिस्तर लंबा पसारे, उस पर टाँग फैलाये बैठे हुए उस सेठ ने कुछ दे तो नहीं दिया। क्या सेठ हिन्दू

नहीं है ? या वह पंजाबी हिन्दू नहीं था ? तभी पार्क में लगे सार्वजनिक रेडियो के मेगाफोन से उसे एक गाने की भनक सुनाई पड़ी, वह उधर चलने लगा। भीड़ खासी थी। कुछ लोग लान पर लेटे थे, फूलों को वेणी में डाले कुछ गुजरातिनें अपने बच्चों को प्रेम से गाड़ियों में ले जा रही थीं। खोंचे वाले यहाँ भी थे। कुछ नौजवान चड्ढी-कुर्ता पहने राजनीति पर गर्मागर्म बहस कर रहे थे। हर एक नौजवान का एक-एक लीडर 'हीरो' था—उनमें से कोई सुभाषवादी था, कोई नेहरूवादी, कोई जयप्रकाशवादी और कोई सावरकरवादी। उन तरुण कालेजियनों मे वाद-विवाद चल रहा था। परन्तु देश के प्रश्न 'डिबेटिंग सोसाइटी' से हल नही हुआ करते—यद्यपि विधान परिषद् वाले निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त चित्त से 'धार्मिक शिक्षा अनिवार्य हो या न हो ?' 'मिशनरियों को प्रचार स्वातंत्र्य दिया जाये, परन्तु बल-पूर्वक धर्मान्तर अवैध करार दिया जाय', आदि एकेडमिक मसलों पर ठंडे दिल से डिबेट करते ही जा रहे थे। उसका सिर घूम रहा था, वह चलते-चलते स्वप्न देखने लगा कि बहुत से वकील और आदर्शवादी स्कूली बच्चे मिलकर एक 'यूटोपिया' का राज करने लगे। मगर ज्यों ही तोपें गड़गड़ाने लगीं, आदर्शवादी बच्चों ने रोना शुरू कर दिया, वकीलों को सिर-दर्द हो गया; बोले—मेरी फीस दे दो; मैं घर जाता हूँ, मैं घर जाता हूँ! और मनोहर का मस्तिष्क फिर स्थिर हो गया।

मनोहर इसी कारण राजनैतिक चर्चा से बहुत जल्द ऊब जाता है। ऐसी चर्चा अरण्यरोदन है, सिकता से तेल निकालना है, अजागल-स्तन है। राजनीति कृतित्व चाहती है; वहाँ शब्द-संगर निष्फल होते हैं।

मनोहर रेडियो पर चल रही वह गजल सुनने लगा—

राह आसान हो गई होगी
हाँ., मौत से तेरे दर्दमंदों की
मुश्किल आसान हो गई होगी।

और दो पदों के बाद तो और भी रोमांटिक भाव था—

तुझ पै कुर्बान हो गई होगी।
तेरी जुल्फों को छेड़ती थी सबा,
खुद परीशान हो गई होगी।

मनोहर के अन्तर्मन में जुल्फों से "जुल्फे-बंगाल" का विज्ञापन याद आया और उसके बाद सिनेमा के देखे हुए बड़े-बड़े पोस्टर और उनमें आई भूरे, सुनहले बाल फैलाये वे मायाविनियाँ, वे ऐक्ट्रेसें, वे चुड़ैलें! चुड़ैलें इसलिए कि मनोहर ने कई महीनों से सिनेमा नही देखा था और पैसे उसके पास नहीं थे कि वह इस प्रकार फिजूलखर्ची करे।

इतने मे उसे एक सिख-नुमा सज्जन दिखाई दिये जो कानाफूसी जैसी धीमी आवाज से बोलते थे, उनकी आवाज ऐसी थी जैसे किसी गहरी कन्दरा में से आ रही हो। उनके सिर पर सफेद साफा बँधा था, कमर में बाकायदा 'किरपान' टँगी थी। जब तक उनका नाम नहीं जानते उन्हें श्री शरणार्थी कह लीजिये। उनकी और मनोहर की बात-चीत काफी दिलचस्प हुई—

शरणार्थी—'क्यों वे छोरे, तू हिन्दू है?'

मनोहर ने गर्दन हिलाई—'हाँ।'

शरणार्थी—'मैंने पूछ लिया जी! इत्थे तो सब का पहनावा यकसा ही होता है। तू क्या करता है?'

मनोहर—'कुछ भी नहीं।'

शरणार्थी—'तो जरूर आवारा है, तुझसे हमारा काम नहीं होगा।'

मनोहर—'काम क्या है जी? मैं काम चाहता हूँ, ऐसा काम जो मुझे दो जून रोटी दे सके।'

शरणार्थी—'नौकरी करेगा?'

मनोहर—'हाँ'

शरणार्थी—'क्या जानता है? रोटी बनावणी तैनूँ आती है?'

मनोहर—(कुछ दबी जबान से) 'हाँ, वह भी थोड़ा-बहुत जानता हूँ, मगर मैं एम० ए० पास हूँ और कुछ गाना जानता हूँ।'

पंजाबी ने अपनी धवल बत्तीसी का प्रदर्शन करते हुए कहा—'आहा, तो तू बच्चों को पढ़ा सकता है ?'

मनोहर ने कहा—'हाँ जी।'

शरणार्थी ने दूसरे शरणार्थी से बातचीत की और बाद में कहा—'पै तुझे तो पंजाबी कहाँ आती होगी ? उर्दू जानता है ?'

मनोहर ने कहा—'उर्दू तो मुसलमानों की भाषा है।'

शरणार्थी—'नहीं जी, हमारे पंजाब में तो सब हिन्दू-अच्छी-खासी उर्दू जानते हैं।'

मनोहर—'होगा साब, यहाँ तो उर्दू को मौलवियों की भाषा ही मानते हैं।'

शरणार्थी—'वाह जी, कल्ल रात हम गुजराती थियेटर देखने गया था, तो ड्रामे का राजा अच्छे शेर चिल्ला रहा था और यह रेडियो! खैर, तो क्या लेगा ?'

मनोहर—'जो आप दे दें। मुझे इस वक्त कोई नौकरी नहीं है, और जो काम और तनखा आप दे दें, वही सही! आप कहाँ से आये हैं ?'

'वह कुछ न पूछो!'—कहकर दूसरे शरणार्थी गुरु गोविन्दसिंह के चेले नम्बर दो ने खूब नमक-मिर्च लगाकर पश्चिमी पंजाब के मुसलमानों के अत्याचारों की ऐसी भड़कीली कहानी शुरू की कि अच्छा खासा मजमा जमा हो गया। उनमें से शरणार्थी नम्बर तीन गुस्से के मारे कृपाण निकालकर हवा में साभिनय उसे चलाते हुए काल्पनिक मक्का-विजय का आनन्द चटकारे दे-देकर ग्रहण करने लगा।

उनके साथ मनोहर आगे बढ़ा। पार्क के दरवाजे के पास ही एक होटल था, वहाँ ये सब शरणार्थी नम्बर एक-दो-तीन-चार... आदि और मनोहर बैठ गये। वहीं एक और शरणार्थी बैठा था जो होटल वाले से उलझ रहा था, ताव से होटल वाले पर बिगड़कर

कह रहा था—'यह भी भला लस्सियों में लस्सी है ? यह भी कोई गिलास है कि मजाक है—उँगली बराबर काँच के गिलास में छाछ के पानी का रंग भरकर दे दिया और बोलता है—लस्सी है ! हमारे पंजाब में तो हाथ-हाथ बराबर (कुहनी से छूकर बतलाते हुए) इत्ते लम्बे गिलास होते हैं—ताजी आधा सेर दही से कम की लस्सी नहीं बनती। और कहता है, चारज होगा ! तो हम क्या पैसे नहीं देंगे क्या ? जो कहेगा सो दाम देंगे...'

मनोहर मन में सोच रहा था कि महँगाई तो है ही, तिस पर शरणार्थियों की भीड़ की यह और बला ! ये अपने साथ काफी धन-माल, पैसे, सोना-चाँदी लाये होंगे—और यहाँ इन्हे ही हमारे चोर बाजार वाले व्यापारी पहिले चीजें देंगे। मुनाफादेवेभ्यो नमः !

'यह दंगा करता कौन है ?' मनोहर सोचने लगा—'हिन्दू कहते हैं, मुसलमान करते हैं, मुसलमान कहते हैं, हिन्दू करते हैं और कांग्रेसी कहते हैं—अंग्रेज करते हैं। मैं समझता हूँ—सब झूठ कहते हैं, दंगा कराने वाला पैसा है !'

श्रीमंत और व्यापारी वर्ग बड़ी ताक लगाये हुए था कि तीसरा युद्ध बाहर विलायत में कब शुरू हो ! युद्ध नही शुरू हो रहा था, इसलिए गत युद्ध में मुनाफा कमाने की जिन्हें चाट पड़ गई थी, वे तीसरे महासमर की खबरें उड़ा-उड़ा कर जैसे हार चुके थे। जब बाहर युद्ध होता नहीं दीखा, तो देश में ही शुरू करा दिया। परिस्थितियाँ जितनी अस्थिर होंगी—चीजें उतनी ही मनमाने दामों पर बिकेंगी और मुनाफाखोर मजे में रहेगा। साधारण जनता शांति चाहती है, उसे मुनाफाखोर और उनके एजेंट भड़काते हैं—ओह, पाकिस्तान खतरे में ! हिन्दुत्व नष्ट हो गया !! ये नारे कहाँ से उठते हैं ? मनोहर के पेट की भूख उसे सब राजनैतिक समस्याओं का एक सीधा 'हल' दे रही थी। किसी लड़के की जेब से कोई कागज का पुर्जा गिरा था, उसने उठाकर देखा—कुछ फार्मूले जैसे थे, चुपचाप जेब में रख लिया।

इतने में एक हो-हल्ला मचा। 'भागो–भागो, मारो-काटो' की आवाजें शुरू हो गईं। लोग बेतहाशा भाग रहे थे। पहिले तो

भयानक विस्फोटक आवाजें हुई, बाद में जैसे बहुत-से पटाखे एक साथ छूटे हों ऐसा स्वर गूँज उठा। पार्क के एक कोने में आग-सी भड़क रही थी, लोगों ने दूकानें झट-पट बन्द कर दीं।

मनोहर कहाँ जाये? वह भागा नहीं, एक कोने में दुबका खड़ा रहा। उसका चेहरा अपराधियों का-सा था ही। फायर-ब्रिगेड आयी और आग बुझाई जाने लगी।

मनोहर काठ की मूर्ति की तरह वहीं खड़ा था, इतने में पुलिस को आते देख उसने छिपने का प्रयत्न किया, पर असफल रहा।

पुलिस की लारी आई। उन्होंने आस-पास में इक्के-दुक्के जो भी मानवजात दिखे, उन्हें पकड़ना शुरू कर दिया। मनोहर की भी बारी आई तो वह रो दिया। पुलिस उसके आँसुओं से पिघले, इतनी छायावादिनी नहीं थीं। चार चपतें रसीद कर पुलिस का सब-इन्सपेक्टर बोला—'हमसे क्यों छिपाते हो? सच-सच बतला दो। यह बम किसने रखा था?'

'मुझे क्या मालूम?'—मनोहर रुकते-रुकते, हिचकियों सहित बोला।

'ऐसे काम नहीं चलेगा, चलो हवालात, जब बेंत पड़ेगी तब अकल ठिकाने आ जायगी। सब कबूल कर लोगे?'—पुलिस की धौंस ने मनोहर को निर्भीक बना दिया। वैसे भी लात-चपतें-बेंत-डंडे पड़ते ही हैं; ऐसे भी पड़ेंगे, फिर रोकर क्या होता है?

बाकायदा बेड़ियाँ पड़ गई, तहकीकात शुरू हुई। फौजदारी में चालान किया गया। मनोहर को सांप्रदायिक दंगे कराने और सामाजिक सुव्यवस्था और शांति-भंग करने के अपराध में दंड मिला, तीन महीने सश्रम करावास! क्योंकि अपराध पूरी तरह सिद्ध नहीं हो पाया था, इसलिये सजा कम हुई थी। देखते-देखते वह हिन्दू नेता और न जाने क्या-क्या हो गया था। महन्त जी के एक स्थानीय पत्र ने एक रोमांटिक वर्णन मनोहर के सम्बन्ध में छापा था—"वह एक हिन्दू अबला की सतीत्व-रक्षा के लिए अहमदाबाद में आये, उन्होंने किसी बात की परवाह नहीं की। परन्तु जब देखा कि गुंडे बराबर उस अबला के पतिव्रत को नष्ट करते जा रहे हैं, तब सावित्री

की तपस्या, सीता का त्याग, सती बेहुला की दृढ़ता, द्रौपदी की एक-निष्ठता, आदि-आदि ने मनोहर के प्रसुप्त आर्यतेज को प्रज्वलित कर दिया। वह एकदम इस योजना पर उतर आये कि उन्हें रासायनिक विस्फोटक बनाने चाहिए। वह विज्ञान के विद्यार्थी थे, इन्होंने इस कला को उपलब्ध किया। पार्क के कोने में जो बम-विस्फोट की घटना हुई, उसके पीछे हुतात्मा वीर मनोहर का ही गहरा हाथ था!...' अखबारी खबरों में एक तिहाई सच और दो तिहाई झूठ ही मिली होती है! भानमती ने क्या किया होगा पता नहीं, पर संवाददाता लोग अवश्य ही कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़कर अपनी खबरों का कुनबा जोड़ते हैं।

मनोहर 'सी' क्लास का कैदी बन गया। दंगों से भले ही किसी का नुकसान होता हो, लेकिन बेकार मनोहर को काम मिल गया।

मनोहर चक्की पीस रहा है और चारदीवालों में बँधा आसमान का टुकड़ा देख रहा है।

अब वह राजनीति, हिन्दू-मुस्लिम, आर्थिक कारण, बेकारी, वगैरह की बातें नहीं सोचता! कधों और पुट्ठों में जो दर्द होता रहता है; और उसे जो दिन का खाना घंटी बजने पर मिलने वाला है, उसकी ओर उसका ध्यान जा रहा है।

दूर से स्पष्ट-सी संगीत की ध्वनि आ रही है। मनोहर घर से इसीलिये तो भागा था कि बड़े शहर में नौकरी करेगा, गाना सीखेगा सहगल के कान काटेगा...मगर विधना के मन कुछ और ही था!

कोई गजल गाई जा रही है। धीमा-धीमा स्वर और भी स्पष्ट होता गया। शायद पुराना रिकार्ड चढ़ा था। परन्तु वह गजल अच्छी थी; उसके शब्द मनोहर को बेध रहे थे—

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं!
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं!
सनाअत न कर आलमे रंगो-बू पर
चमन और भी, आशियाँ और भी हैं।

अगर खो गया इक नशेमन् तो क्या गम,
मुकामात आहो-फुगाँ और भी हैं!

मनोहर संगीत का आनन्द, चक्की पीसते हुए भी ले रहा था। मन कहीं उड़ जाय, उसे जैसे पर लगे हों—ऐसा उसे लगा। उसे इससे क्या कि इस गजल का लेखक इकबाल था, कि उसने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' लिखा था, या बाद में वह 'पैन-इस्लाम वाद' का समर्थक बन गया था! उसके मन में तो बार-बार गजल का वह एक मिसरा घुला जा रहा था—'सितारों से आगे जहाँ और भी है!'

कैसा अजीब यह साँचा है! साँच-झूठ का यहाँ पता नही है।

मनोहर जेल में सोचता था—'डिक्सन और लिज़ा पता नहीं कहाँ होंगे? विलायत में जाकर वे जैसे खो-से गये। कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार तो चलता रहा पर बाद मे वह भी बन्द हो गया। फादर डिक्सन बार-बार लिखते कि ईसाई धर्म में विश्व के यांत्रिक रूप का विरोध है, परमपिता और पुत्रों के बीच में वात्सल्य का संबंध बराबर बना रहता है। पर ये बातें सिर्फ ईसाई धर्म-पुस्तक में ही बन्द थीं, आचार तो कुछ और कहता था। केवल जापान में ही बुद्ध की पीतल की प्रतिमाएँ गलाकर युद्ध-सामग्री, तोपें और गोलियाँ नहीं बनायी गयी थीं और जगहो में भी काफी कुछ हुआ था। 'स्वधर्मे निधन श्रेयः' का यह बड़ा ही नुकीला और प्राणघातक उदाहरण था। लिज़ा के पत्र बाद में आने बन्द हो गये! मनोहर बेकार हो गया था। और विलायत से पत्र-व्यवहार करने का डाक-खर्च भी उसके पास नहीं था।

शरण! ओह! शरण जी तो अब किसी प्रदेश के सरकारी उपमंत्री ह। युद्धकाल म उनके विचार सरकार-विरोधी, देश-विरोधी, कांग्रेस-विरोधी थे तो क्या हुआ? अब वे राजनीति के सेवक हैं। कोठी है, कालीन ह, कमरे हैं, कामदार फर्नीचर हैं, कुशन हैं, काकातुआ पीजरे में है, कमल वाले सरोवर के बगीचे ह, कोच है, कुर्सियाँ हैं, केटरर्स हैं, कुमारियाँ हैं, कैवेंडर्स हैं, कोकाकोला है, क्या-

क्या नही है ? पद्माकर की 'गुलगुले गलीचे हैं, गिलमें हैं, गजक है' कवित्त की याद नहीं आती क्या ?

ये जनता के सेवक हैं ! कहते हैं, 'इतनी सारी मुश्किलें और जेलें झेल कर बड़े कष्ट से उन्हें जो स्वतन्त्रता का सुख मिला है उसे भी आप नहीं भोगने देंगे ? वाह जी वाह ! यह तो उनकी हक की छुट्टी है !'

शरण जी की कामना पूरी हो गई थी, उसे मिस कामिनी मिल गयी थी । सेठ मटरूमल बाँकेराम उसके साथ मिल कर साझे में फिल्म कम्पनी खोलने की सोच रहे थे । कहानी लिखने के लिये नागरचन्द जी तयार थ और गीतकार प्रसिद्ध भूतपूर्व-क्रान्तिकारी कवि मुरारी जी थे ही । मुरारी जी ने इस बीच में शराब बहुत पीनी शुरू कर दी थी और इस वजह से उनकी तोंद बढ़ गई थी—उन्हें शायद जलोदर भी बताया जाता था—परन्तु उससे क्या ? 'कुकड़ूँ-कूँ' फिल्म में उनके गाने 'बाक्स आफिस हिट' रहे थे । संस्कृति-रक्षा-मंडल वालों को 'जोबना के उभार' गाने पर आक्षेप करने का अवसर मिला था, पर उससे क्या ? उनके परम मित्र आलोचक हरदास जी ने सिद्ध कर दिया था कि यह युग ही अश्लील है, इसमें मुरारी जी की कृति श्लील कैसे रह सकती है ? शरण कहीं शूटिंग देख रहा होगा, या 'शूटिंग' करने गया होगा !...'हे... प्रभो आनन्द दाता, 'शरण' हम को दीजिये' यह उसके स्वागत में गीत देहाती स्कूल में गाया जाता होगा...।

:०: :०: :०:

केशो को टी० बी० हुई, किसी ने उसकी सुध नहीं ली और वह मर गया ।

मरने से कुछ महीने पहिले उसके घरवालों को कायदे से इत्तिला दी गई थी, पर वे क्या कर सकते थे ? जब वक्त आया तो दोनों आपस में लड़ने वाली यूनियनों ने उसकी दवा-दारू के लिए पैसे देने से इनकार कर दिया । एक यूनियन बोली—'वह तो कम्युनिस्ट था, उसको ऐसे ही मर जाना चाहिए ।'

कम्यूनिस्ट यूनियन बोली—'हमारे पास क्यों आते हो ? गांधी

जयन्ती के दिन वह 'आई० एन० टी० यू० सी० में गया था। वहाँ से तुमको मदद मिल जायेगी। धन्ना सेठ उनको, उनकी यूनियन को, खूब पैसे देते हैं!'

जब यह खबर आई० एन० टी० यू० सी० के पास पहुँचाई गई तो वे बोले:—'कौन? कामरेड लाल खां ऐसा कह रहे थे? मैं चैलेंज करता हूँ कि वे जरा इस बात को सिद्ध तो करके दिखाएँ। हमारे हिसाब-किताब बिल्कुल साफ हैं, हमें रूस और चीन से पैसा नहीं मिलता!'

और कम्युनिस्ट यूनियन ने यह सुन कर चैलेंज फेंका—'यह सरासर गलत है। अमुक साम्यवादी नेता की पुस्तिका पढ़िये—उसमें साफ लिखा है—'हमारा राजनैतिक मत 'एक्सपोर्ट' नही किया जाता, हमें विदेशी मदद जरा भी नहीं मिलती?'

'मिलती है!'

'नहीं मिलती!'

'मिलती है! मिलती है!!'

'नहीं मिलती! नहीं मिलती!!'

स्वदेशी मदद—विदेशी मदद—स्वदेशी-विदेशी। इसी बहस में एक दिन मुफ्त वार्ड से केशो का शव उसकी पत्नी के हवाले कर दिया गया, शायद मुर्दा फूँकने लायक पैसा मिल वालों ने दे दिया था।

मरते समय मांगीराम को बुलाया गया था, पर वह नहीं आया था।

मांगीराम जो पहले मिल की हड़तालों में 'दादा' था—युद्धकाल में आर्मी कांट्रैक्टर बन गया था। खूब रुपये कमाये थे उसने और अब वह स्वतन्त्र उम्मीदवार बनकर प्रान्तीय चुनाव लड़ रहा था। उसका इलेक्शन मैनिफेस्टो था—

'मांगीराम को वोट दो! मजदूरों को मांगीराम जी और छुट्टी दिलवायेंगे!'

'मांगीराम जी बलाइयों को सबकों के बराबर बना देंगे!'

'मांगीराम जी और सेठ जी जो नयी मिल साझे में ले रहे हैं, उसमें मजदूरों के भी शेयर रहेंगे!'

मांगीराम को ही वोट दो--वह किसी यूनियन मे नहीं है ! वह तुम्हारे धर्म की रक्षा करेगा ! वह गाय का भक्त है और उसने एक मजदूरिन से शादी की है !!

माँगीराम को वोट !

डंके की चोट !!

मनोहर यह सब सुन चुका था । सोचता था--'यही दुनियाँ का चक्र है ? कैसा अजीब यह साँचा है और अजब है इसे घुमाने वाला पहिया !'

साँच-झूठ का यहाँ पता नहीं है, दोनों एक ही चक्के पर उतार कर तराश लिए जाते है । कोई खराद चढ़ा रहा है और कोई चढ़ रहा है । अगले छण कब गिरेंगे भान नहीं है, चढ़ा जा रहा है, सिर्फ उतरने के लिये !

जेल में मनोहर की जो विचारधारा थी, वह अर्धसुषुप्त, अध-चेतन उन्माद से विशृंखल-सी थी । पर यदि उसका कोई ग्राफ बनाया जाता तो वह कुछ इस प्रकार से होता; नौलखा हार, गार्डेन में पानी के झरने, बाँस के झुरमुट, मिल की दुनियाँ मे आने वाले तेल, कपास और कोयले की मिश्रित गंध; घुटना तक कीचड़; स्टेशन के आस-पास रखे हुए पत्थर और मिट्टी के ढेर; अपने बच्चे को बुखार चढ़ने पर भयभीत हिरनी-सी कातर दृष्टि लेकर आयी हुई, भिख-मगिन जैसी याचना भरी दृष्टि से गिड़गिड़ाने वाली मजदूरनी रखमा! कामरेड मुनीरखा की खशखशी दाढ़ी और हर बात पर गर्दन को झटका देकर यह कहना--'गोया, इन्शाअल्लाह !' दैनिक पत्र के एक मरियल सपादक की गढ़े में धँसी हुई आँखें; हिन्दी का भाँग पीना; राजकुमार का प्रेम-प्रकरण, बम्बई में एक पारसी औरत ने उसे झाँसा दिया, फोटो खिचवा लिए और अब बराबर रुपये माँगती जा रही है । खद्दर की टोपी पहनने पर मास्टर दीनदयाल के साथ सख्ती का बरताव; ओझागिरी; गाँववालों में चलने वाले ताबीज और गंडे, इजेक्शन लेने से उनको झिझक...

एक दूसरा दिवास्वप्न:--मुसब्बी का रस, छोटे यरवदाचक्र चरखे पर महीन काता जाने वाला गीता का श्लोक, जिसे एक सिनेमा का

भद्दा-सा चाखन वाला गाना आँख मार रहा हो! तेल सन बालों में चिपकी हुई पुरानी मटमैले रंग की टोपी के नीचे से झाँकनेवाला केशो का उदास झुर्रियों भरा चेहरा! कार्नीवाल में तैरते हुए बत्तख के खिलौने पर फेंकी गोल रबड़ की रिंग! रिंग मास्टर का सिंह की आवाज से जूझना! बख्तावरसिंह राजपूत मिल का पहरेदार, कान के छल्ले, उदयपुरी पीली पगड़ी बांकदार बटों के नीचे सत्तावन कलियों का घागरा! बोनस—बोनस—ट्रिक-ट्रिक—फोन का कभी न मिलनेवाला नम्बर—विजयनगर में बाढ़ से घबड़ाकर सेठ मिल के भोंपू पर ही चढ़ गये, भट्टी बुझी थी, नहीं तो बदन झुलस जाता। सिंदूर बदनं—आल्हा, रामायण, मार्च—मजदूरी-भत्ता ओवर-टाइम, ओवर कोट, पठानकोट, फरीदकोट, कोटला—कोटि-कोटि कर खर करवाले—' अनाज का कोटा—टन्-टन्-टन् घंटा! रात के तीन बजे—टीन बजे—

मनोहर जब से इस सालिटेरी सेल में आया है, जेल वाले उसे एक सौ तैंतालिस नम्बर का कैदी बना कर उसके व्यक्तित्व को घटाना चाहते हैं—पर मनोहर है कि उसका व्यक्तित्व यों दबाने से मिटता नहीं उभरता है।

सालिटेरी सेल में देश-काल की सीमाएँ टूट गई हैं, यहाँ एकदम छायावादी कवि की-सी ऊर्ध्व-चेतनात्मक कुहेलिका है, या मधुशाला का आनन्द है—कोई पराजिता विजनवती आँखों से लिबलिबे शब्दों को, घिसे-पिटे अलंकारों को, विसर्जन कर रही है! फिर से जवान बनने की जरत्कारु कोशिश। मनोहर, तुम यही करते तो अच्छा होता! यह 'साहित्यिक सन्निपात' तुम्हें क्यों सूझा? तुममें रूढ़ि से भिन्न जाने की यह इच्छा क्यों है?

न जाने कहाँ-कहाँ की यादें आ रही हैं?

कवि मुरारी तो सांईबाबा के आश्रम में पहुँच गये, उसके पहले स्तालिन के स्तुति-गान गाते थे। उसके लिए कोई आराध्य जरूर होना चाहिए, तुक में कोई फर्क नहीं पड़ता। अपने ऊपर जिन्हें भरोसा नहीं होता वे खूटियाँ ढूँढ़ते फिरते हैं। उधार माँगता हूँ,

मैं प्यार माँगता हूँ, बाजार माँगता हूँ, अंगार माँगता हूँ, बेकार माँगता हूँ—

इस तरह तुकों की चौखट तैयार कर ली, बीच में भी कुछ लिख दिया—'गीत' कहलायेगा, पर बजाय गीत लिखने के मनोहर गीता पढ़ने लगा ! जिन्दगी की कम्पोजिंग में गलत टाइप लग गये, इसलिए पूरी किताब प्रूफ की गलतियों से भर गयी ।

न जाने क्या-क्या याद आ रहा है ?

मन कैसे-कैसे बिखर रहा है, असंबद्ध प्रलाप की तरह शब्दों की मणि-माला टूटकर बिखर गयी है, व्याकरण की रीढ़ टूट चुकी है वर्तनियों का पारा कभी इधर कभी-उधर फैल रहा है । फिर भी कोई चीज है जो उसके आशय की पूर्णता को थामे हुए है, जो उसमें अर्थ फूँकती है ।—आनंदवर्धन ! तुमने ठीक ही कहा था पर तुम आज मेरे लिए दुःखवर्धन बन रहे हो । क्या विसंगति में संगति खोजने और पैदा करने का काम ही 'निर्मिति' नहीं है ?

मनोहर ने सोचा, कि काव्य-शास्त्र की बड़ी-बड़ी बातें इस बड़े शारीरिक दर्द के आगे कहाँ ठहरती हैं ? यह सालिटरी सेल ! यह नम्बर एक सौ तैंतालिस पन ! यह ठिठुरता हुआ जाड़ा ! यह व्यक्ति का मात्र वैयक्तिक घोरतर एकान्त !

'एक्ला चलो ! एक्ला चलो ! चेक्ला चलो !' चेलों के चेलो—

'जबे ताहार डाक केउ ना शूने...'

'डाक' यहाँ किसको पहुँचेगी ? मानव मात्र का 'दुक्ख' अब एक बैरंग डाक की तरह है, जिसका अता-पता नहीं चलता । ये कला के बुद्ध उस दुःख के कारण की मीमांसा में जंगल छान रहे हैं ? निगंठ सारिपुत्र, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बली, अडार कालामा इन सबसे इस दुःख का कारण—पूछ-पूछकर हार गये पर मूल नहीं मिला—और बुद्धू बनकर लौट आये ।

ये कला के ईसा ! अपनी शूली खुद कंधे पर लादे घूम रहे हैं । यहाँ कीलें हैं, जूडास हैं, काँटों का मुकुट भी है—पर ईसा ही नहीं

है। वैसा अपार धीरज किसी में नहीं है। ये तुनुकमिजाज और बात-बात पर गुस्सा होनेवाले पीड़ा में जग को ढूँढ़ेंगे, या जग में पीड़ा को ? ये सिर्फ गधे पर सवारी करके नपुंसक भाव से हिरोशिमा और नागासाकी को देख रहे हैं--बिकिनी और व्लादीवोस्तोक् को देख रहे हैं।

यह मनोहर ऐसे विश्व में जी रहा है ! क्या उसे जेल की सालिटरी सेल के दंड का डर नहीं है ?

हम निरन्तर डरते आ रहे हैं--इससे, उससे, अज्ञात और अदृश्य और अश्रव्य और अस्पर्श्य से ! पर अपने-आप से, अपने स्वयम् के भीतर घर करने वाले इस पाप से, जोकि मौत से भी खौफनाक है; नहीं डरते क्योंकि मौत के बाद की कौन जानता है ? पर जिंदगी में यह क्षण-क्षण की मौत !

अस्तित्व को अनस्तित्व में मिटाने वाला यह दुर्बल-संकल्प, जो सहज व्यक्ति को, व्यक्तियों की संस्था को, राष्ट्र को, सबको साँचे में बदल देता है, यह यान्त्रिकता का मोह, यह सरलता से अधिक सरलपन की ओर जाने की वृत्ति, यह साहस का अभाव, यह नित्य का डर, यह क्यों ? किसलिए ? किसका ?

सवेरा होने लगा। ब्राह्ममुहूर्त शायद सभी वर्णों के लिए मुहूर्तमात्र है, यह चिरं धूमायितः की शुरुआत है...!

'श्रवण नयनमय नयन श्रवणमय--श्रवणक पथ दुहुँ लोचन गेल', दृष्टि-श्रुति के पंथ कहाँ है ? ये सब झांई, कुहरा, प्रकाश, छाया, सात सुरों के रंग-पुट इनके बीच कहीं पर श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त दीवार है--

'माकुरु, माकुरु, माकुरु...'

विधि-निषेध की माया-आत्मा ! अब तो सालिटेरी सेल में पड़ गई बेचारी ! वह क्या सोचे, क्या न सोचे ? उसकी संवेदना के द्वार बंद हैं, उसकी मुक्ति पर बंधन है, उसकी नीति पर कोढ़ है--धारायें हैं, सुप्रीम, अब्सोल्यूट ! 'ला', लल-लल-ला। 'ला ! मीना भर साकी, मुझको लाल-लाल हो जाने दे--'

रक्त की लाली ! अधर की लाली ! मद्य की लाली ! जाने दो, किसी शराबी की बहक से बढ़कर इन पंक्तियों का क्या मूल्य है ? पर लाल राजनीति का नशा ? कामरेड दिनशा ने कहा कि 'रेड' करना जिनका 'काम' है ! वे शान्ति, विश्व-मानवता और भाई-चारे की इतनी मीठी-मीठी बातें क्यों करते हैं ? भाई, सीधे से कह दो, कि हम भी वही सब तरीके अपनायेंगे, जो दुश्मन के हैं। जंगली आदिवासियों में यही होता है, खून का बदला खून, मुंड का बदला मुंड ! पर वे बेहतर हैं क्योंकि खुलकर, कहकर प्रतिशोध लेते हैं--पर यह क्या किस्सा है कि इन साँचों के डायनेमो कहीं और हैं और साँचे यहाँ हैं ?

मनोहर ने मन-ही-मन कहा, 'चाहे टूट जाऊँगा, साँचा नहीं बनूँगा, शरण नहीं जाऊँगा ! यह प्रपत्ति उनकी हो जो अपने भरोसे पर नहीं हैं, हम अपने तईं काफी हैं। हर आदमी एक विश्व है, एक पूजनीय सत्ता है !'

पास के वार्ड से कोई गंभीर, संयत, स्वरों में अथर्ववेद पढ़ रहा था--

अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात् ।
उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु ।।
अभयं मित्रात् अभयं अमित्रात् ।
अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरो यः ।।
अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः ।
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।।

जेल के जँगले के ताले में चाभी घुमाई गयी। सालीटरी सेल ! भारी बूटों की चाप ! ममी, प्रेतों और फ्रैंकेनस्टाइनों की मार्चिंग ! मार्चिंग-डार्लिंग, डार्लिंग-ध्रिङ्क-ट्रिंग ! त्रिकोण-रेखा ! अनेक बिन्दुओं से बनकर मिलने वाले कासेंट्रिक सर्कल्स ! एक को एक काटते, बढ़ते जाते हुए कई वर्तुल ! मिल के भोंपू का मुख, कोयले और धुएँ से काला, धुएँ की रजाइयाँ उड़ाता सार-भस्म ! हेड जाबर कृष्ण गोपाल का पाइप, लाल-लाल आँखें ! इंजीनियर झाबवाला की सुनहरी मूँछें और गंजी चाँद ! चाँद खां--जंग

खाया हुआ चाँद ! फोकसवाली काँच, बड़े होते हुए टाइप, खाने को थाली झन्न से आ गिरी ! छिः मैं कोई मक्खी हूँ जो खाने पर मँडराती है—खाने और पाखाने पर—?

(थोड़ी देर के लिए मनोहर को झपकी आ गयी)

सपने में वह और भी विचित्र गतिमय दृश्य देखने लगा—भागते हुए पहाड़, बालू के ढलान, झाड़ियां, झंखाड़, काँटे की बागड़, तोपें, सिपाहियों के टोप, पीठ में खुभे हुए छुरे ! मनुष्यता के नाम पर चिल्ल-पों मचाने वाले पोंगापंथी, तुंदियल, त्रिपुण्डधारी ! खसखसी दाढ़ी के मुसलमान, उपमाओं की धूम-सुन्दरी की आँखें, दूध पीते बच्चे के होंठ पर दूध की बूँद, धान की फसल, लाल-काली मिट्टी, कृष्णा नदी—गोमती-शांती, पिनें चुभाने का गुदगुदा पिनकुशन कीलें जिनके बदन पर ठुकी हो और दंगे की चपेट में पड़े ऐसे निरीह मानव...!

पत्ते झर रहे हैं, पेड़ों को पंख लग गये हैं, गले तक चादर ओढ़े वे उड़े जा रहे हैं। जड़ें ऐसी लगती हैं जैसे हवाई जहाज के नीचे लटके हुए छतरीधारी हों, स्याहीसोखों से भरे कनस्टर हों, जिनमें जितना भी खून डाला जाय, गायब। अजब जादू है ! आँख में पुतली की बजाय सोने की गोली और दाँतों में सुरमा ! बहुत बड़े-बड़े सूप जैसे कान और वे हाथी के न होकर किसी युग के मनुष्य के ! हविष्य के बचे हुए भाग ! पीले, जामुनी, गुलाबी, गुलाम और गुलाब, जामुनी, गुल और गुलगुले जामुन, गुलाबजामुन...

ऐंठन और बदन के जोड़-जोड़ में ऐंठन ! हाथ पैरों में ठिठुरन, फिर विस्मरण। जाड़ा ! पत्थर पर कंबल मे से हड्डी में भिदनेवाला जाड़ा। इस वक्त शिमले में बर्फ गिर रही होगी—काश्मीर की झीलों पर शिकारे जकड़े होंगे ! सब ओर मुरदा नंगी-सफेदी-फैल गयी होगी—सिमेटरी कफन की धवलिमा ! इस सफेदी पर काला दाग, श्वेतकमल पर भृंग की चाँदमारी—कागज के बड़े-बड़े पत्ते पर दीमाक का एक छेद ! बिजली बंद, कारखाने में कोई नहीं है, शिकारखाने में कोई नहीं है—जंगली सूअर घूम रहे हैं, हाँके-वालों के ढोल फोड़ दिये गये हैं। कैलेण्डर में अब की क्या दिसम्बर

में बसंत आया है ? अच्छा है, शिकार के लिए कोई भी वक्त अच्छा है । उठो साथियो ! सात बज गया, चा खाने का बोखोत हुआ—

कुछ देश ऐसे हैं जहाँ तुम नहीं जानते जाड़ा महसूस नहीं होता उदक की तरह कहीं शैम्पेन है कहीं बद्का—वहाँ बहुत गर्मी महसूस करानेवाली चीजें हैं । अच्छा खाना-ओढ़ना, हर मजदूर के पास एक उर्वशी, दो रंभा, तीन पुलोमा, चार कुबेर, छह कल्पवृक्ष, सात सब्जबाग, आठ कारूँ का खजाना होता है, मालूम है जादू के है । उन्होंने चीन को चिन्-चिन् कर दिया—टिचन कर दिया—चार दिन में चार हजार बरस को भुलानेवाली धर्म से भी बड़ी अफयून उनके पास है—राजनैतिक अधनिष्ठा ! विवेक की ऐसी-तैसी, संस्कृति ? विकृत, खुदा ? खब्त, दयानत ? ख्वाब । सब साधन जायज हैं, बशर्ते कि एक बड़ा साध्य हो ! बिचारा व्यक्ति महा स्टेट के चरणों में है । निरा, नाम-रूप का चक्कर है जैसे साँपनाथ वैसे नागनाथ—फर्क क्या पड़ता है ? मैकार्थीय मुरारे ! सतालीनो हरे ! डमरू की डम् डम्, प्रलय, तांडव, डेल्यूज, कयामत महानाश, फिर से नई सृष्टि। वहाँ पीपल के पत्ते पर अँगूठा चूस रहे हैं जनाब ! वाह, भाई वाह ! हम तो जुग-जुग के जनम-जनम के जाने-पहचाने हैं, हरिबोल ! हरिबोल !! हाँरिबल ! हाँरिबल !! हुर्राह !

खंडित मानव, खंडित दृष्टि ! अखंडित दृश्य, अखंडित पशुता ! जैविक-दैहिक-दैविक तापा, रामराज मँह तुलसी काँपा ! ...छिन्न-भिन्न क्या है ? अविच्छिन्न क्या है ? और अभिन्न क्या है ? मजदूर की बासी रोटी की पुटलिया, किसान के घर की छाछ बिलोती मथनियाँ, खेतों पर आहिस्ता बहने वाली हवा, प्यार के मीठे-मीठे वादे या स्टे-नन से तड़-तड़ चलने वाली गोलियों की बौछार, ठंडा ! डंडा ! पंडा !

थोड़ी देर में फिर जंगले का फाटक खुला, थाली ज्यों-की-त्यों पड़ी थी। नंबर एक सौ तिरालीस को एक बैटन से छुआ गया। कहीं मर तो नहीं गया ठंड के मारे ?

बढ़े हुए बाल, खूँखार चेहरा, गढ़े में धँसी इंगूरी आँखें सारी व्यवस्था को जैसे चुनौती देती-सी !

एक घुड़कती हुई आवाज---'खाना क्यों नहीं खाया ?'

'अच्छा नहीं लगा !'

(नकल उतारते हुए) 'ऐच्छा नेई लैगा ?---तेरी सुसराल है ये ? (दो गालियाँ) मर जाना चाहता है ? अभी पूरी पिटाई नहीं हुई है शायद !'

'पिटाई से आप समझते हैं कि खाना अच्छा लगने लगेगा ?'

'यहाँ समझने-उमझने का सवाल नहीं, खाना पड़ेगा ! नही तो जबरदस्ती ठूँसकर खिलाया जायगा !'

'जीने की भी जबरदस्ती है ?'

'बहस मत करो ! कांस्टेबल---कोड़ा लाओ !'

साँचे की तरह, यांत्रिक ढंग से-दो कौर मुँह में चले गये। जेल का सुपरिटेंडेण्ट लौट गया।

फिर अकेलापन, सीलभरा अँधेरा कमरा और विचार-शृंखलाएँ। लिजा ने कहा था कि 'दुख किसी को अकेला नही रहने देता', पर शायद अकेलापन अपने आप में एक दुःख है। लिजा ने कहा था---'एक दिन तुम पागल हो जाओगे ! इतना दर्शन क्यों पढ़ते हो, दुनिया दर्शन नहीं, प्रदर्शन चाहती है।' लिजा ने कहा था---'तुम्हारे और मेरे बीच सात समुन्दर लहराते हैं, नीले-काले-लाल समुन्दर।' लिजा ने कहा था---'आँसू की एक बूँद समुन्दर से बड़ी है और पछवावे के आँसू की बूँदों की ताकत समुद्र के तूफानों से बढ़कर है।'

पर क्या इतने बर्बर अत्याचार, दंगे, युद्ध, सामूहिक मानव-हनन करने वालों की निर्लज्ज और पथरायी हुई आत्माएँ बधिर

हो चुकी हैं ? वहाँ विवेक का देवता क्या अनन्त काल के लिए शेष-शय्या पर शयन करता है ?

मनोहर ने सोचा—'यों कुछ नहीं होता, शायद पुराने जमाने की बातें कुछ मदद करे ? अगले वक्तों के हैं ये लोग, इन्हें कुछ न कहो, पर उन्हीं अगले वक्तों के मसीहाओं, देवताओं, पैगम्बरों और वीर-वरों के नाम ले-लेकर ही तो सारी मार-काट हुई, इतना खून-खराबा हुआ, इतना रक्त-विनाश हुआ !

'उफ्...बला की सर्दी है !'

कोई दूर से गा रहा है—जेल की दीवारें और सींकचे फांद कर भी गाना क्यों यहाँ तक चला आता है ? साफ सुनायी दे रहा है। मनोहर सुनता रहा :—

"ऊधौ जी तुम सखा सयाने, जानत हाल मुरारी कौ।
छलिया आय अगारी कौ।
सांच सांच मन ही मन रहिये।
सरनागत गिरधारी कौ।
छलिया आय अगारी कौ।

मनोहर के मन में वह पंक्ति जैसे बस गई—'सांच-साँच मन ही मन रहिये !' क्या सच कभी कहा नहीं जा सकता ? या कहा नहीं जाना चाहिये ? या मन की बनावट ही ऐसी है कि सचाई को वह अन्दर ले तो सकता है; पर किसी को बाहर दे नहीं सकता। क्या कहा जाय और क्या न कहा जाय ? क्या मन की बिथा मन मे ही छिपा कर रखे ? जैसे इस सालीटरी सेल में मनोहर के मन के भाव सच-सच लिख दो तो कहेंगे क्या उल-जलूल, उटपटांग, बेकार की बातें हैं ? जिनका न सिर न पैर, न आदि न अन्त, न अथ न इति और न लिखो तो फिर घटना-चक्र वाले अनगिनत उपदेश-प्रधान पोथन्ने तो हैं ही !

क्या इतना शोर है कि कोई किसी की नहीं सुनता ? या इसलिये नहीं सुनता कि सुनकर भी क्या कर लेगा ?

या सुनना, कुछ कर लेने का पर्यायवाची है ?

और एक दूसरा गाना !

जेल में एक पगलराम रहते थे, जो बीच-बीच में गाने की धुन में आते तो गाने लगते। उनकी कर्कश, साफ, ऊँची आवाज सींखचों को पार करके मनोहर को सुनाई दे रही थी। उसकी विचार धारा टूटी—

कोई बिल्ली कोई बगुला देखा, पहिरे फकीरी खिलका।
बाहर मुख से ज्ञान छाँटते, भीतर कोरा छिलका।
पढ़े लिखे कुछ ऐसेहि वैसो, बड़ा घमंड अकिल का।
क्या कहिये गुरुदेव ! न पाया मरहम आँख के तिल का !

मनोहर को भी एक कविता याद आ गई। राबर्ट फास्ट की कविता 'एलोन स्ट्राइकर'।

मिल की यद्यपि अनगिनत आँखें हैं,
फिर भी उसकी आँखें बिल्कुल पथराई हुई, अपारदर्शी हैं;
इसलिये वह अन्दर देख नहीं सकती,
कि कहीं कोई अकेली, उपेक्षिता मशीन
उसके लिये अलसाई हुई, बेकार तो नहीं पड़ी है ?
(यह तो उसे उम्मीद नहीं कि उसका दिल टूट गया होगा)
.....
कारखाना बहुत अच्छा है,
हाँ, उसकी और-और आधुनिक गति बढ़े।
फिर भी, कुछ भी हो, वह दैवी नहीं है,
यानी यह कहूँ, कि वह गिर्जाघर नहीं है !

—:o:—